युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द

डॉ. राजेन्द्र टोकी

युगद्रष्टा
स्वामी
विवेकानन्द
डॉ. राजेन्द्र टोकी

युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द

डॉ. राजेन्द्र टोकी

इंद्रप्रस्थ इंटरनेशनल

भूमिका

विवेकानन्द पर पुस्तक लिखने का मेरा कभी कोई इरादा नहीं रहा। मेरे अपने कुछ पूर्वाग्रह हैं, सो मैंने धार्मिक, आध्यात्मिक व्यक्तियों पर लिखने की बात कभी नहीं सोची। लेकिन जब आदरणीय बलदेव वंशीजी ने आग्रह किया तो जाने किस झोंक में मैंने हाँ कर दी। अब मेरा सदा यह मानना रहा है कि इन्सान को अपनी जुबान को सदा सम्मान देना चाहिए, क्योंकि ले-देकर यही एक चीज़ है जिसकी वजह से वह जाना-पहचाना जाता है। वादा करके मुकरना फ़ितरत नहीं रही—सो बँध गया। मैंने अपने निजी पुस्तकालय से 'विवेकानन्द साहित्य' उठाया और पढ़ना शुरू कर दिया। सौभाग्य से उन्हीं दिनों 'हंसराज रहबर' की पुस्तक 'योद्धा संन्यासी विवेकानन्द' मेरे हाथ लगी और मैं इस काम में लग गया।

विवेकानन्द पर कार्य प्रारम्भ करने से पहले मेरे सामने यह समस्या थी कि मैं इसे कैसे लिखूँ? क्या विवेकानन्द के संवादों को ज्यों का त्यों उद्धृत करता चलूँ या अपने शब्दों में उनकी बातों को पाठकों के सामने रखूँ? दूसरी बात में खतरा यह था कि मैं कहीं अर्थ का अनर्थ न कर डालूँ। वैसे भी विवेकानन्द अपने विचारों में इतने स्पष्ट हैं, इतनी सही भाषा में उन्होंने अपने विचार रखे हैं कि मुझे लगा इन्हें उलट-पुलट करके मैं शायद उनके साथ अन्याय करूँगा। सो मैंने पहला रास्ता चुना। वैसे भी मुझे विवेकानन्द को व्यवस्थित ढंग से पाठकों तक पहुँचाना था, न कि स्वयं को। जो मुझे कहना था, वह मैंने अंत में कह ही दिया है। अतः यदि कुछ पाठकों को इस पुस्तक में उद्धरणों की बहुतायत लगे तो वे इसे मेरी सीमा समझकर स्वीकार करें क्योंकि विवेकानन्द के विचारों को अपना बनाकर

प्रस्तुत करना मुझे अनैतिक लगा।

प्रश्न हो सकता है कि आज के संदर्भ में विवेकानन्द का औचित्य क्या है? इसके जवाब में इतना कहना क्या पर्याप्त नहीं कि हमें स्वयं विवेकानन्द को पढ़-समझकर इसका जवाब ढूँढना चाहिए। आज सही जवाब पाने का यही उचित तरीका है। इसमें संदेह नहीं कि परिवर्तन, विशेषत: बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, कुछ इस तेज़ी से हुआ है कि कुछ भी स्थिर नहीं रहा है—न आदर्श, न मूल्य, न विचार। व्यक्ति का अवमूल्यन हुआ है। ग्लोबलाइजेशन ने मनुष्य को 'ईश्वर' के स्थान पर 'वस्तु' बनाकर रख दिया है और भौतिकता को 'ईश्वर' का स्थान दे दिया है। ऐसे में विवेकानन्द जैसे मनीषियों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। इस संदर्भ में उन्हीं के शब्द उद्धरणीय हैं—"आज जबकि भौतिकता अपनी शक्ति तथा कीर्ति के शिखर पर है तथा जब यह संभव हो रहा है कि मनुष्य जड़ वस्तुओं पर अधिकाधिक अवलम्बित रहने से अपनी दैवी प्रकृति भूलकर केवल धनोपार्जन का एक यंत्र मात्र बन जाये, समायोजन की बड़ी आवश्यकता है।" यह समायोजन आज कहीं नहीं है और यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य केवल धनोपार्जन का एक यंत्र मात्र बनकर रह गया है। विवेकानन्द जैसे मनीषी इसी समायोजन के लिए आज अत्यधिक प्रासंगिक हैं क्योंकि वे ही अध्यात्म के साथ भौतिकता का समायोजन करने की बात कहने वाले पहले व्यक्ति थे। हम भौतिकता की अंधी दौड़ में हैं और धीरे-धीरे हम उस सत्य का साक्षात्कार भी करने वाले हैं जिसकी घोषणा विवेकानन्द ने उन्नीसवीं सदी में की थी—"एक समय ऐसा होता है जब भौतिकवादी भावों की बाढ़ अपना आधिपत्य जमा लेती है और जीवन की प्रत्येक चीज़ जिससे आर्थिक अभ्युदय हो अथवा ऐसी शिक्षा जिसके द्वारा हमें अधिकाधिक धन-धान्य और भोग प्राप्त हो सकें—पहले बड़ी महिमामयी प्रतीत होती है, परन्तु फिर कुछ समय बाद महत्त्वहीन होकर नष्ट हो जाती है।" पश्चिम इस सत्य के साक्षात्कार के निकट दिखाई देता है। हमें सचेत होने की आवश्यकता है।

विवेकानन्द ने जिस क्षेत्र को चुना था उस पर विवाद की संभावना सदा से थी और सदा रहेगी, क्योंकि कोई भी विचार अंतिम और शाश्वत नहीं होता—ऐसा होता तो नये विचारों का जन्म ही न होता। सो नये-पुराने विचारों का सतत निर्माण-ह्रास होता रहता है। देखने वाली बात यह होती

है कि कौन-सा विचार कितनी देर तक जीवित रहा, कोई विचारक कितनी दूर देख पाया। इस दृष्टि से देखें तो निस्संदेह स्वामी विवेकानन्द की कुछ बातें आज अप्रासंगिक हैं (जैसे संस्कृत भाषा के अध्ययन की बात) लेकिन ये परिमाण में बहुत कम हैं। उनकी वाणी में जो ऊर्जा है, शक्ति है, वह आज भी यथावत है। इस सत्य से भी आँख नहीं चुराई जा सकती कि बड़े लोगों की बातों को जीवन में उतारना उतना सरल नहीं होता जितना उनको कहना-सुनना। शायद इसीलिए इतने मनीषियों के होते हुए भी यह देश पतन के गर्त में ही है। ढेरों सार्थक विचारों के होते हुए हम न तो अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार हैं, न मानसिकता को। शायद यही कारण है कि हम दस क़दम आगे बढ़ते हैं तो बीस क़दम पीछे हटते हैं। झूठ जीने की ऐसी आदत हमें पड़ चुकी है कि सत्य का साक्षात्कार हमें बर्दाश्त ही नहीं। आज दूरदर्शन पर धार्मिक चैनल कम नहीं हैं, दर्शक भी बेशुमार हैं। हर दूसरा आदमी पूजा-पाठ करता, किसी सम्प्रदाय से जुड़ा प्रचार-प्रसार करता दिखाई पड़ता है। दूसरी तरफ इस देश में हत्या, अत्याचार, बलात्कार, लूट-खसोट, धन-लोलुपता के चलते रिश्तों को बेच खाने की घटनाओं में बढ़ोत्तरी हो रही है। क्या कभी हमने अपने 'धार्मिक' होने की जाँच-पड़ताल की है? हमें आत्मकेन्द्रितता, निजी स्वार्थ और क्षुद्र अहंकार ने इतनी बुरी तरह से ग्रस लिया है कि अब इसके अतिरिक्त कुछ नहीं जँचता। भ्रमों में जीने की आदत ने हमसे हमारा तेज छीन लिया है। विवेकानन्द ने बार-बार हमारी जड़ मानसिकता, कूपमंडूकता पर प्रहार किया है, मगर हम चेते नहीं।

विवेकानन्द का अध्ययन करते हुए मैंने पाया कि उन्हें न मानने वाले भले ही बहुत हों, लेकिन उनके विचारों की आलोचना करने वाले न के बराबर हैं। मुझे बताया गया है कि कभी 'सरिता-मुक्ता' वालों ने उन पर छः लेख प्रकाशित करवाये थे जिनमें उनकी आलोचना थी। मैं वे लेख देख नहीं पाया। दूसरे आलोचक मुझे 'ओशो' मिले। मैं ओशो का प्रशंसक हूँ—उन्हें पढ़ा-सुना है। लेकिन विवेकानन्द पर उनके विचार उचित नहीं लगे। उनका खुलासा मैंने कर दिया है—ओशो को पूरा सम्मान और इज़्ज़त देने के बावजूद।

दस भागों में फैले विवेकानन्द के विचारों को किसी एक पुस्तक में समेट पाना सम्भव नहीं है। सो बहुत कुछ इस पुस्तक में छूट गया है। विवेकानन्द ने जिन विचारों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हैं उन्हें इस पुस्तक

में संक्षेप में देने का प्रयत्न मैंने नहीं किया है। सुविज्ञ पाठक उन्हें वहीं से पढ़ सकते हैं। कुछ विषयों पर विस्तार से चर्चा करने का मन था लेकिन पुस्तक की सीमा को देखते हुए उन्हें फिर किसी अन्य पुस्तक के लिए छोड़ दिया गया है। इस पुस्तक को पूरा करने के लिए कुछ सामग्री जुटाने के साथ-साथ सुझाव और प्रोत्साहन देने के लिए जो तत्परता मित्रवर हरिन्दर गोयल और नरेन्द्र सैनी ने दिखाई है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। अपने मित्र एवं ज्योतिषाचार्य राजेन्द्र कपिल का भी मैं कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने अपने कीमती समय में से कुछ घड़ियाँ निकालकर मेरे लिये सामग्री तलाश की और मुझ तक पहुँचाई। मैं अपने शिष्य संगम वर्मा को शुभाशीष देता हूँ कि उसने इस कार्य को पूरा करने में पूरा सहयोग दिया। मैं स्नेहिल सुषमा सिंगला के सहयोग को भी कभी भुला नहीं सकता। कम्प्यूटर का सारा कार्य-भार सहधर्मिणी रीना ने सहर्ष वहन किया जिसके कारण यह कार्य समय से सम्पन्न हो सका है। अब उसका आभार क्या प्रकट करूँ। और यहाँ मैं अपने उस कवि, आलोचक अभिन्न मित्र अशोक भाटिया को कैसे भूल सकता हूँ जिसकी कृपा से बलदेव वंशीजी जैसे वरिष्ठ कवि से भेंट हुई। पुस्तक की रचना के दौरान जो कठिनाइयाँ आईं उनका ज़िक्र फिर कभी करूँगा। यह पुस्तक विवेकानन्द को समझने में यत्किंचित भी सहायक सिद्ध हुई तो मैं अपना कार्य सार्थक समझूँगा। प्रतिक्रिया देंगे तो आभार मानूँगा।

—राजेन्द्र टोकी

अनुक्रम

"वीरता से आगे बढ़ो, दूसरी छोटी-छोटी बातों की चिन्ता न करो—'घोड़े के साथ लगाम भी मिल जाएगी'। मृत्युपर्यन्त काम करो—मैं तुम्हारे साथ हूँ, और जब मैं न रहूँगा तब मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी। यह जीवन आता और जाता है। नाम, यश, भोग—ये सब थोड़े दिन के हैं। संसारी कीड़े की तरह मरने से अच्छा है—कहीं अधिक अच्छा है कर्तव्य क्षेत्र में सत्य का उपदेश देते हुए मरना। आगे बढ़ो।"

—स्वामी विवेकानन्द

"जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या यह संसार जीवन का ध्येय है? इससे अधिक कुछ नहीं? क्या हमें केवल यही होना है, जो हम हैं, अधिक कुछ नहीं? क्या मनुष्य को एक ऐसी मशीन बनना है, जो कहीं अटके बिना सफाई से चलती रहे? आज जो सारी यातनाएँ उसे मिलती हैं, उतना ही उसे मिलना है, और क्या वह उससे अधिक और कुछ नहीं चाहता?...क्या इन्द्रिय-सुखभोग ही जीवन का ध्येय है? यदि ऐसा है, तो मनुष्य शरीर प्राप्त करना ही एक बड़ी भयंकर भूल है।"

—स्वामी विवेकानन्द

प्रथम अध्याय

विवेकानन्द : जीवन परिचय

परिस्थितियाँ, पुरखे और जन्म

जिस समय स्वामी विवेकानन्द का जन्म हुआ उस समय भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उथल-पुथल से भरी थीं। 1857 की क्रांति असफल हो चुकी थी और हिन्दू एवं मुसलमान दोनों अंग्रेज़ों के आगे अपने घुटने टेक चुके थे। अंग्रेज़ों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना कब्ज़ा जमा लिया था। अंग्रेज़ी शासन का मूल उद्देश्य भारतीयों को पराधीन करने के साथ-साथ आत्मविस्तार का था, उसके लिए वे अपनी शिक्षा, अपनी विचारधारा का प्रसार करने में जुटे हुए थे। अंग्रेज़ों का दमन-चक्र जारी था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि लोग सोते से जागे और कई प्रतिभाशाली युवक अंग्रेज़ों के विरुद्ध उठ खड़े हुए।

इसी समय पूँजीवादी वर्ग अस्तित्व में आया। अंग्रेज़ों की शक्ति इनके विस्तार को अवरुद्ध कर रही थी। अंग्रेज़ों की सैनिक शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी, उनकी औद्योगिक सभ्यता निश्चित रूप से हमारी सभ्यता से श्रेष्ठ थी। अर्थतंत्र और व्यापार पर उनका अधिकार था। इसके अलावा अंग्रेज़ों ने भारतीय लोगों के आत्मविश्वास को तोड़ने के लिए सांस्कृतिक आक्रमण भी शुरू कर दिया था। इस संदर्भ में उनका नारा था कि भारतीय मूर्ति-पूजक और जंगली हैं, वे तो भारतीयों को सभ्य बनाने के मिशन पर आए हैं। लूट-खसोट उनका उद्देश्य नहीं है। सच्चाई यह है कि अंग्रेज़ों का मूल उद्देश्य यही था। इधर राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज अपनी गतिविधियों और विचारों के कारण लोकप्रिय था। पश्चिमी सभ्यता और भारतीय संस्कृति

के बीच संघर्ष शुरू हो गया था और इसका केन्द्रस्थल उस समय भारत की नवप्रतिष्ठित राजधानी कलकता बनी, जहाँ विवेकानन्द का जन्म हुआ।

कलकत्ता महानगर के उत्तरी भाग में सिमुलिया नामक मोहल्ले में गौरमोहन मुखर्जी स्ट्रीट में दत्त परिवार के यहाँ 12 जनवरी, 1863 को मकर संक्रांति के पुण्य पर्व के अवसर पर प्रसिद्ध वकील विश्वनाथ की पत्नी भुवनेश्वरी देवी ने जिस बच्चे को जन्म दिया, वह आगे चलकर विश्वप्रसिद्ध विवेकानन्द हुआ। शिव के प्रसाद से प्राप्त इस बच्चे का नाम उसकी माँ ने वीरेश्वर रखा। संक्षेप में सभी उसे 'बिले' पुकारने लगे। उसका अन्नप्राशन के दिन दूसरा नाम नरेन्द्रनाथ भी रखा गया। इसी नाम से वे प्रसिद्ध भी हुए। नरेन्द्र के दो छोटे भाई महेन्द्र और भूपेन्द्र तथा दो बहनें भी थीं।

नरेन्द्र जिस दत्त परिवार में पैदा हुआ वह कलकत्ता के प्रसिद्ध वकीलों का परिवार था। उनके परदादा राममोहन दत्त कलकत्ता सुप्रिम कोर्ट के प्रसिद्ध वकील थे। जहाँ धन-ऐश्वर्य और प्रसिद्धि इस परिवार को प्राप्त थी, वहाँ ज्ञानचर्चा और शास्त्रचर्चा भी इस परिवार की विशेषता थी। राममोहन के इकलौते बेटे दुर्गाचरण भी पिता के समान वकालत के धन्धे में पड़ गए थे। लेकिन उनका स्वभाव अपने पिता से भिन्न था। वे धर्मानुरागी अधिक थे। सत्संग और शास्त्रचर्चा में अधिक रुचि रखते थे। परिणाम यह हुआ कि वेदान्ती साधुओं से वे इतने प्रभावित हुए कि 25 वर्ष की आयु में ही अपनी पत्नी और इकलौते पुत्र विश्वनाथ को छोड़कर संन्यासी हो गए। 12 वर्ष के बाद जब वे जन्मभूमि का दर्शन करने के लिए लौटे तब उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था और वे अपने पुत्र विश्वनाथ को आशीर्वाद देकर पुनः चले गए। इसके बाद वे फिर कभी घर नहीं लौटे।

विश्वनाथ ने भी बड़े होकर वकालत का पैतृक धन्धा ही अपनाया। वकालत में व्यस्त रहते हुए भी पारिवारिक परम्परा के अनुसार शास्त्रचर्चा तथा अध्ययन के प्रति उनका विशेष अनुराग था। धार्मिक कट्टरता उनमें नहीं थी। अंग्रेज़ी साहित्य और इतिहास आदि के अध्ययन के अलावा उन्होंने फ़ारसी भी सीखी थी। वे एक व्यवहारकुशल और सफल वकील थे। उन्होंने खूब धन कमाया। ठाठ-बाट से जीवन जीना उनका स्वभाव था। वे खुले हाथ से खर्च करते थे और खुले हाथ से दान भी करते थे। इसके विपरीत उनकी पत्नी भुवनेश्वरी देवी एक धर्मपरायण स्त्री थीं। वे अपने बच्चों की

स्नेहपूर्वक देखभाल करती थीं। रामायण, महाभारत, भागवत आदि पुराणों का पाठ वे नियमित रूप से किया करती थीं।

नरेन्द्र को माँ के मुख से रामायण और महाभारत की कहानियाँ सुनना बहुत पसन्द था। माँ भी अपने इस लाड़ले बेटे को गोद में बैठाकर यह कहानियाँ बड़े चाव से सुनाया करती थीं। दत्त भवन में प्रायः प्रतिदिन दोपहर को रामायण और महाभारत की कथा होती थी। नरेन्द्र इन्हें बड़े ध्यान से सुना करते थे। इन कहानियों का गहरा प्रभाव उनके मन-मस्तिष्क पर पड़ा। इसी प्रभाव का परिणाम था कि एक दिन वह बाज़ार से राम और सीता की एक मूर्ति खरीद लाया और कुछ समय बाद अपने कोचवान मित्र के द्वारा विवाह का भयंकर चित्र खींचे जाने पर और माँ के यह कहने पर कि सीता-राम की पूजा न भी करो तो कोई हानि नहीं, शिव की पूजा करना, छत से उस मूर्ति को बिना किसी संकोच के नीचे फेंक दिया।

नरेन्द्र बचपन से ही बड़ा शरारती था। अपने बाल्यकाल के बारे में बहुत समय बाद उसने अपने एक शिष्य से बातें करते हुए कहा भी था, ‘‘मैं बचपन से ही जिद्दी शैतान था।’’ नरेन्द्र की ऊधम के मारे सबकी नाक में दम रहता था। माँ की डाँट-डपट का उस पर कोई असर नहीं होता था। उसको शान्त करने के लिए माँ के पास एक ही अचूक मंत्र था। वह नरेन्द्र को कहती, ‘‘अगर तुम ऊधम मचाओगे तो भगवान् शंकर तुम्हें कैलाश नहीं आने देंगे।’’ या फिर शिव-शिव कहकर उसकी माँ उसके सिर पर पानी के छींटे देतीं तो वह शान्त हो जाता।

नरेन्द्र जहाँ ऊधमी था वहाँ जिज्ञासु भी था। उसके पास सदैव प्रश्नों की लड़ी तैयार रहती थी। वह अपनी माँ से प्रश्न पूछता ही रहता—भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है? बाएँ हाथ से गिलास उठाकर जल पीने से पहले हाथ क्यों धोना पड़ता है? चौके में चले जाने से भोजन कैसे अशुद्ध हो जाता है? खाना खाते समय चुप क्यों रहना चाहिए? इस तरह के अनेक प्रश्न बालक नरेन्द्र की ज़ुबान पर रहते थे। जब उसे इनके संतोषजनक उत्तर न मिलते तो वह उद्दण्ड हो जाता और नियमों का उल्लंघन करता। बालक नरेन्द्र के बचपन के अनेक क़िस्से हैं। यहाँ केवल एक का उल्लेख पर्याप्त होगा। अपने पिता के एक मुवक्किल से नरेन्द्र की अच्छी मित्रता हो गई। वे मुसलमान सज्जन उसके लिए खाने के लिए

जो भी लेकर आते, नरेन्द्र निस्संकोच खा लेता। उसके पिता कट्टर नहीं थे, उनकी दृष्टि में सभी जाति के लोग समान थे। इसलिए उनके निकट नरेन्द्र का मुसलमान के हाथ से खाना कोई अपराध नहीं था। लेकिन परिवार के अन्य लोग इसे पसन्द नहीं करते थे। वे उसे ऐसा करने से मना करते थे। जिज्ञासु नरेन्द्र फिर प्रश्नों से घिर गया। जाति-भेद उसके लिए एक पहेली था। अपने प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए उसने बैठक में रखे हुए अलग-अलग हुक़्क़ों को गुड़गुड़ाकर देखा। उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि अलग-अलग जाति के लोगों के लिए रखे हुए सभी हुक़्क़े एक जैसे हैं। तभी वहाँ उसके पिता आ पहुँचे और अपने बेटे के इस कार्य को देखा और उसका कारण पूछा। नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं यह परीक्षा कर रहा था कि अगर मैं जाति-भेद न मानूँ तो मेरा क्या होगा।" पिता ने सस्नेह बेटे को देखा और चले गए।

बचपन में नरेन्द्र को रामायण और महाभारत की कहानियाँ याद हो गई थीं। उसे सबसे प्रिय पात्र हनुमान लगता था और यह छवि आजीवन उसके साथ रही। बालक नरेन्द्र हनुमान की खोज में घण्टों पेड़ के नीचे बैठकर उनकी प्रतीक्षा करता रहा क्योंकि उसे बताया गया था कि हनुमान आज भी ज़िन्दा हैं। विवेकानन्द बन जाने के बाद भी उन्होंने एक बार कहा था, "दुर्बल हिन्दू जाति के सामने इस महावीर्य का आदर्श रखो। शरीर में शक्ति नहीं, हृदय में साहस नहीं, क्या होगा इन जड़ पिण्डों से? मैं चाहता हूँ घर-घर में महावीरजी की पूजा हो।"

नरेन्द्र बचपन से ही निडर था। वह भूत-प्रेत से भयभीत नहीं होता था। जब चम्पा के पेड़ पर चढ़ने से उसे यह कहकर रोका गया कि इस पर ब्रह्मराक्षस रहता है तो शेष साथी तो डर गए लेकिन वह हँसता रहा। उसे इस बात का पता था कि ये बातें केवल उन्हें डराने के लिए की गई हैं।

शिक्षा

पाँच वर्ष की आयु होने पर नरेन्द्र की शिक्षा घर पर शुरू हुई। शुरू-शुरू में उसके गुरुजी को उसे पढ़ाने में कठिनाई अनुभव हुई क्योंकि परम्परागत मार-पीट का और डाँट-डपट का ढंग नरेन्द्र को पसन्द नहीं था। जल्दी ही

उसके गुरुजी को यह बात समझ में आ गई और वे उसे स्नेहपूर्वक पढ़ाने लगे। प्रारम्भिक शिक्षा घर में समाप्त करके उसे मैट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूट में भेजा गया। वहाँ नए-नए मित्र, नये-नये खेल। खूब धमा-चौकड़ी मचती। नरेन्द्र शीघ्र ही अपनी टोली का नेता बन गया। मित्रों में कोई भी झगड़ा होता तो वह बीच में पड़कर उसे सुलझा देता।

पाठशाला का अनुशासन नरेन्द्र को पसन्द नहीं आया क्योंकि उसे एक आसन पर अधिक देर बैठने, एक स्थान पर अधिक देर तक ठहरने का अभ्यास नहीं था। छः घण्टे पाठशाला में काटना उसके जी का जंजाल बन गया। धीरे-धीरे उसे अनुशासन का मतलब समझ में आने लगा और वह ठीक से अपना अध्ययन करने लगा।

नरेन्द्र का स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। लोग उसे मंत्रमुग्ध भाव से देखा करते थे। 14 वर्ष की आयु में पेट की खराबी के कारण उसका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन बिगड़ता चला गया और उसका शरीर सूखकर हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया। नरेन्द्र के पिता उन दिनों मध्य प्रदेश में थे। जलवायु परिवर्तन के लिए पिता ने अपने परिवार को रायपुर बुला लिया।

रायपुर में उन दिनों कोई पाठशाला नहीं थी। अतः पिता घर पर ही नरेन्द्र को पढ़ाने लगे। नरेन्द्र के स्वास्थ्य में भी सुधार होने लगा। नरेन्द्र रायपुर में दो साल तक रहा। पिता के साथ बातचीत और उनके मित्रों के साथ वाद-विवाद नरेन्द्र के लिए वरदान सिद्ध हुए। उसके पिता पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त उसे इतिहास, दर्शन और साहित्य संबंधी विभिन्न पुस्तकें पढ़ाने लगे। बेटे की ग्राह्य शक्ति देखकर पिता विश्वनाथ दंग रह गए और उन्हें पढ़ाने में आनन्द भी आने लगा। नरेन्द्र के किशोर मन पर पिता के व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ गई। रायपुर में ही उसने अपने पिता से पाक विद्या भी सीखी। कॉलेज में वह अपने मित्रों को समय-समय पर अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाया करता था। विदेश भ्रमण के अवसर पर विदेशियों को भारतीय पकवानों का स्वाद भी उसने चखाया।

दो वर्ष के बाद नरेन्द्र जब रायपुर लौटा तो वह शारीरिक और मानसिक रूप से बहुत बदल चुका था। मित्र उसे अपने बीच पाकर बहुत प्रसन्न हुए। वह स्कूल में दाखिल हुआ और उसने खूब परिश्रम करके 9वीं और 10वीं कक्षा की परीक्षा दी। वह मैट्रिक की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास

हुआ। स्कूल का भी वह पहला विद्यार्थी था जिसने प्रथम श्रेणी में यह परीक्षा पास की थी।

मैट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूशन के एक शिक्षक के अवकाश ग्रहण के अवसर पर उस समय के सुप्रसिद्ध वक्ता सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय के सामने अपना भाषण देकर नरेन्द्र ने उन्हें प्रभावित कर लिया।

18 वर्ष की आयु में नरेन्द्र प्रेजिडेंसी कॉलेज में भर्ती हो गया। लेकिन मलेरिया प्रकोप के कारण उसे पढ़ाई और कॉलेज छोड़ना पड़ा। अगले वर्ष असेम्बली इंस्टीट्यूशन में प्रवेश लेकर वह एफ. ए. करने लगा। थोड़े ही समय में अपने सहपाठियों और अध्यापकों में उसने अपना विशेष स्थान बना लिया।

नरेन्द्र की व्यायाम, खेलकूद तथा संगीत में विशेष रुचि थी। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण थोड़े ही समय में वह अपना अध्ययन पूरा कर लेता था सो उसके पास इन सब बातों के लिए पर्याप्त समय बच रहता था। नरेन्द्र का कण्ठ मधुर था और वह बहुत अच्छा गाता था। संगीत के नरेन्द्र के मुसलमान उस्ताद 'बेनी' और हिन्दू उस्ताद काशीनाथ घोषाल थे। इन्हीं से उसने पखावज और तबला बजाना सीखा था।[1] एफ. ए. की परीक्षा देने से पहले उसने देकार्त का अहंवाद, ह्यूम और वेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद और इसके अलावा हर्बर्ट स्पेन्सर का अज्ञेयवाद पढ़ डाला था। इस अध्ययन ने उसे उद्वेलित कर दिया और उसने अनुभव किया कि केवल बुद्धि की सहायता से दार्शनिक तत्वों की मीमांसा करने से काम नहीं चलेगा। उसके मन में ढेरों प्रश्न उठने लगे और वह इनका प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए बेचैन हो उठा।

नरेन्द्र और आर्यसमाज

उन दिनों बंगाल में ब्रह्मसमाज का प्रचार ज़ोरों पर था। वह जीते-जागते आदर्श की खोज के लिए अपने कुछ मित्रों के साथ आदि ब्रह्मसमाज का सदस्य बन गया। कुछ ही वर्ष पहले ब्रह्मसमाज 'आदि ब्रह्मसमाज' और 'अखिल भारतीय ब्रह्मसमाज' में विभाजित हो चुका था। पहले के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे। नरेन्द्र इसी 'आदि ब्रह्मसमाज' का सदस्य बना। वह

1. इसका सविस्तार वर्णन इसी पुस्तक के 'कला, संगीत, काव्य और विवेकानन्द' अध्याय में देखें।

ब्रह्मसमाज की रविवारीय उपासना में शामिल होता था और अपने सुमधुर कण्ठ से ब्रह्म-गीत सुनाकर सभी को मंत्रमुग्ध कर देता था। एक दिन देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कहने पर उसने ध्यान करना आरम्भ किया। थोड़ा खाना, चटाई पर सोना, सफेद धोती और चादर पहनना और शारीरिक कठोरता का पालन करना उसका नियम बन गया। अपने इस काम को और अधिक समय देने के लिए उसने अपने घर के निकट नानी के मकान में एक कमरा किराए पर ले लिया। परिवार के लोग समझते थे कि घर में असुविधा के कारण नरेन्द्र अलग रहने लगा है। पिता अपने बेटे की स्वाधीनता में कभी हस्तक्षेप नहीं करते थे। नरेन्द्र समाधि लगाता रहा और उसने यह फैसला कर लिया कि इसी जीवन में सत्य को प्राप्त करना होगा नहीं तो इसी प्रयत्न में प्राण दे देने होंगे। नरेन्द्र ब्रह्मसमाज के साथ जुड़ा अवश्य हुआ था लेकिन उसका मन अब भी अशांत था और जिस जीते-जागते सत्य की उसे खोज थी वह यहाँ भी उसे दिखाई नहीं पड़ा।

नरेन्द्र और परमहंस

नरेन्द्र ने रामकृष्ण परमहंस का नाम पहली बार अपने कॉलेज के प्राचार्य विलियम हेस्टी के मुख से उस समय सुना था जब वे क्लास में छात्रों को वर्ड्सवर्थ की कविता पढ़ा रहे थे। हेस्टी महोदय ने उनकी प्रशंसा की थी। दूसरे लड़कों की भाँति नरेन्द्र भी इस बात को कुछ दिनों के बाद भूल गया था।

नरेन्द्र के पड़ोस में सुरेन्द्रनाथ मित्र नाम के एक व्यक्ति रहते थे। वे परमहंस के भक्त थे। नवंबर 1881 के एक दिन उन्होंने रामकृष्ण परमहंस को अपने घर आमंत्रित किया। भजन गायन के लिए किसी योग्य व्यक्ति के अभाव में उन्होंने अपने पड़ोसी नरेन्द्र को बुला लिया। नरेन्द्र के कण्ठ से गाना सुनकर परमहंस ने इस युवक की प्रतिभा को पहचान लिया। वह उठकर नरेन्द्र के पास आए, कुछ देर बातें कीं और फिर दक्षिणेश्वर आने का अनुरोध करके चले गए।

एफ. ए. की परीक्षा के कारण नरेन्द्र व्यस्त हो गया और इस निमंत्रण को भूल गया। इधर नरेन्द्र के विवाह की बात चल पड़ी। पिता अपने बेटे पर किसी प्रकार का दबाव डालना नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने नरेन्द्र की

राय जानने के लिए अपने एक संबंधी डॉ. रामचंद्र दत्त को भेजा। नरेन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में विवाह से इनकार कर दिया और परम सत्य को जानने की अपनी विकलता की बात उन्हें बताई तो दत्त साहब ने उससे कहा, "यदि वास्तव में ही सत्य की प्राप्ति तुम्हारा उद्देश्य है तो ब्रह्मसमाज आदि में भटकना व्यर्थ है। तुम दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण देव के पास जाओ।"

नरेन्द्र दक्षिणेश्वर गया तो परमहंस चिर-परिचित व्यक्ति की भाँति अत्यंत सहजता से मिले। उससे गीत सुने और उसे एकांत में ले जाकर उससे कहा कि वह इतने दिन कहाँ रहा। वे कब से उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। परमहंस ने हाथ जोड़कर नरेन्द्र को सम्मान से सम्बोधित किया, "मैं जानता हूँ, तू सप्तर्षि-मंडल का महर्षि है—नर रूपी नारायण है, जीवों के कल्याण की कामना से तूने देह धारण की है...।" फिर मिलने का वायदा लेकर ही नरेन्द्र को उन्होंने जाने दिया। नरेन्द्र अचम्भित था और हैरान भी। इस प्रकार नरेन्द्र कई बार उनसे मिला। वे उसे प्रेमपूर्वक खिलाते-पिलाते, उससे बातचीत करते, उससे गीत सुनते और फिर आने का वायदा लेकर ही उसे जाने देते। परमहंस नरेन्द्र से पूरी तरह जुड़ चुके थे लेकिन नरेन्द्र शुरू से ही तार्किक था। पाश्चात्य दार्शनिकों की स्वाधीन चिंतनधारा और मतों से भलीभाँति परिचित होने के कारण वह पहले-पहल परमहंस का जगन्माता के साथ वार्तालाप, ईश्वरीय रूप के दर्शन आदि को मस्तिष्क का भ्रम कहता था। जब अन्य भक्तगण नरेन्द्र के साथ तर्क करते तो उसकी तीक्ष्ण युक्तियों के सामने वे निरुत्तर होकर खिन्न हो जाते।

नरेन्द्र ने दरअसल विज्ञान और पाश्चात्य दर्शन पढ़ा था। उसने जब दक्षिणेश्वर आना-जाना शुरू किया तो वह अंधविश्वास और मूर्ति-पूजा से सख्त घृणा करता था। वह अद्वैतवाद के विरुद्ध था। वह हर चीज़ में परमात्मा देखने के विरुद्ध था। जब परमहंस ने उसे अष्टावक्र संहिता आदि ग्रंथ पढ़ने को दिए तो नरेन्द्र झुँझला उठा—"मैं ये पुस्तकें नहीं पढ़ूँगा। मनुष्य को ईश्वर कहना, इससे बड़ा पाप और क्या होगा? ग्रंथकर्त्ता ऋषि-मुनियों का मस्तिष्क अवश्य ही विकृत हो गया था, नहीं तो ऐसी बातें वह कैसे लिख पाते।" परमहंस विवेकानन्द की इन बातों का बुरा नहीं मानते थे। वे उसकी तीव्र आलोचना और आवेगमय तर्क सुनकर आनन्द से भर जाते थे। नरेन्द्र यदि दक्षिणेश्वर नहीं जाता तो वे बेचैन हो जाते थे।

नरेन्द्र ने बी.ए. पास करते-करते जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिकों का भी अध्ययन कर लिया था। कान्ट, फिक्टे, हेगेल, शॉपेनहावर के मतवादों से भी परिचय प्राप्त किया था। इसके साथ-साथ मेडिकल कॉलेज में जाकर स्नायु और मस्तिष्क की गठन एवं कार्य-प्रणाली को समझने के लिए अनेक व्याख्यान सुने और इस विषय का अध्ययन किया। नरेन्द्र पश्चिम के भौतिकवाद और दक्षिणेश्वर के अध्यात्मवाद के बीच डोल रहा था। बिना अनुभव किए ईश्वर को मानने की अपेक्षा नरेन्द्र नास्तिक बन जाना बेहतर समझता था। उसकी पारिवारिक परम्परा भी दो परस्पर विरोधी आदर्श प्रस्तुत कर रही थी। एक ओर दादा का त्याग था, जिन्होंने सब-कुछ छोड़कर संन्यास धारण किया था तो दूसरी ओर पिता का भोगवाद था।

नरेन्द्र ने 18 वर्ष की आयु में दक्षिणेश्वर जाना शुरू किया था और बी. ए. की परीक्षा देते समय उसकी आयु 21 वर्ष की थी। उसका द्वन्द्व ज्यों का त्यों था। वह पश्चिमी विचारक हैमिल्टन से बहुत प्रभावित था। इधर पिता ने नरेन्द्र को बी. ए. पास कर लेने से पहले ही प्रसिद्ध अटार्नी निमाई चरण वसु के पास जाकर क़ानून की शिक्षा पाने का आदेश दिया ताकि वह परमहंस के चक्कर से निकल सके।

इधर कई युवक रामकृष्ण परमहंस से प्रभावित होकर ब्रह्मसमाज को छोड़कर उनके शिष्य बन गए थे। इसके कारण ब्रह्मसमाज के नेता परमहंस के प्रति उपेक्षा का भाव रखने लगे थे। ब्रह्मसमाज के नेता शिवनाथ ने नरेन्द्र को भी वहाँ जाने से रोका। नरेन्द्र यह बात समझ ही नहीं पा रहा था कि परमहंस जैसा व्यक्ति उस जैसे तुच्छ व्यक्ति से इतना प्यार क्यों करता है! ब्रह्मसमाज के अधिकांश नेताओं से नरेन्द्र का परिचय था। वह उनके पांडित्य से प्रभावित भी था। लेकिन उनमें से किसी के प्रति भी नरेन्द्र के मन में इतनी श्रद्धा नहीं थी जितनी रामकृष्ण के प्रति। शायद इसीलिए नरेन्द्र ने अपने एक परम मित्र से यह कहा था, "भाई, उस महापुरुष को तुम नहीं समझते। वास्तव में मैं भी उन्हें पूरी तरह नहीं समझ पाया। फिर भी उनमें कुछ ऐसी बात है कि मैं उन्हें चाहता हूँ।"

इस संदर्भ में एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक है। नरेन्द्र दो-तीन सप्ताह से दक्षिणेश्वर नहीं आया था। रामकृष्ण परमहंस उसे देखने के लिए व्याकुल हो उठे। उन्होंने यह सोचकर कि रविवार को शाम को नरेन्द्र

ब्रह्मसमाज की उपासना में भजन गाने जाएगा, ब्रह्मसमाज के उपासना भवन में जा पहुँचे। उस समय आचार्य वेदी से व्याख्यान दे रहा था। वेदी के निकट पहुँचकर वे भावाविष्ट हो गए। लोगों में उत्सुकता बढ़ गई। उपासना भवन में गड़बड़ी होती देख संचालकों ने गैस की बत्तियाँ बुझा दीं। अँधेरा हो जाने के कारण जनता में मंदिर से निकलने के लिए हड़बड़ी मच गई। नरेन्द्र को रामकृष्ण के वहाँ आने का कारण समझने में देर नहीं लगी। जब उनकी समाधि भंग हुई तब वह मंदिर के पिछले दरवाज़े से किसी तरह उन्हें बाहर लाया और गाड़ी में बैठाकर दक्षिणेश्वर पहुँचाया। ब्रह्मसमाजियों ने परमहंस के प्रति तनिक भी शिष्टाचार नहीं दिखाया बल्कि उनका आचरण अभद्रता और उपेक्षा का था। नरेन्द्र के मन पर इससे बड़ी चोट लगी और इसके बाद उसने ब्रह्मसमाज में जाना छोड़ दिया।

नरेन्द्र की अशांति और ईश्वर के प्रति उसकी जिज्ञासा किसी प्रकार भी शांत नहीं हो पा रही थी। वह अत्यंत द्वन्द्व में अपने जीवन के दिन काट रहा था। एक दिन ईश्वर प्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता लेकर नरेन्द्र घर से निकला और महर्षि देवेन्द्रनाथ के पास जा पहुँचा जो गंगाजी पर एक नौका में रहा करते थे। नरेन्द्र उनसे आवेगरुद्ध कण्ठ से बोला, "महाशय, क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?" महर्षि की जुबान न खुली और फिर कई तरह का आश्वासन देकर और नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करने की बात कही। नरेन्द्र उनके उत्तर से संतुष्ट न हुआ और घर लौटकर दर्शनशास्त्र तथा धर्मसंबंधी पुस्तकों को दूर फेंक दिया। रातभर वह कितनी ही बातें सोचता रहा। अचानक उसे दक्षिणेश्वर के परमहंस की याद आई। सुबह होते ही वह उस तरफ दौड़ पड़ा। वहाँ भी उसने यही प्रश्न किया, "महाराज, क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?" परमहंस ने तुरंत उत्तर दिया, "बेटा, मैंने ईश्वर के दर्शन किए हैं। तुम्हें जिस प्रकार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ इससे भी कहीं स्पष्ट रूप से उन्हें देखा है।" उन्होंने फिर कहा, "क्या तुम भी देखना चाहते हो? यदि तुम मेरे कहे अनुसार काम करो तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।" परमहंस की जुबान में विश्वास का बल था। नरेन्द्र ने परमहंस को मन से गुरु धारण किया और उनके बताए अनुसार साधना आरम्भ कर दी। नरेन्द्र ने परमहंस को केवल इतनी-सी बात पर ही अपना गुरु नहीं बना लिया था। जिस प्रकार परमहंस ने नरेन्द्र को ठोक-

बजाकर देख लिया था, उसी प्रकार नरेन्द्र ने भी पग-पग पर जाँच-परख लिया था कि श्री रामकृष्ण की कथनी और करनी में सामंजस्य है कि नहीं। उसने दो-तीन बार परमहंस के स्पर्श के माध्यम से कुछ अलौकिक अनुभूतियों का अनुभव भी लिया था। परमहंस का उसके प्रति अथाह स्नेह भी इसके पीछे कार्यरत था। नरेन्द्र को इस प्रकार के अनुभव बाद में भी हुए। यहाँ केवल एक प्रसंग का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। परमहंस से दूसरी भेंट में जब नरेन्द्र और वे अकेले हो गए तब तन्मय होकर अस्पष्ट स्वर से कुछ कहते हुए स्थिर दृष्टि से नरेन्द्र को देखकर उन्होंने अपना दाहिना पैर नरेन्द्र के अंग पर संस्थापित कर दिया और उनके स्पर्श से क्षणभर में नरेन्द्र के भीतर एक अपूर्व उपलब्धि होने लगी। उसे घर की दीवारों के साथ सारी चीज़ें घूमती हुई कहीं विलीन होती दिखाई दीं। सारे ब्रह्माण्ड के साथ नरेन्द्र का क्षुद्र अहम् सर्वव्यापक महाशून्य में विलीन होने लगा। उस समय नरेन्द्र घबरा उठा और अपने को सँभाल न सकने के कारण चिल्ला उठा—"अजी, आपने मेरी ये कैसी अवस्था कर डाली? मेरे तो माँ-बाप हैं।" नरेन्द्र की बात सुनकर परमहंस हँस पड़े और उसका हाथ पकड़कर, छाती को स्पर्श करते हुए कहा—"अच्छा तो फिर अभी रहने दो। एकदम ही होने की कोई जरूरत नहीं है। समय आने पर होगा।" नरेन्द्र पहले की भाँति ही प्रकृतिस्थ हो गया।

फरवरी 1884 में अचानक एक दिन नरेन्द्र के पिता का देहान्त हो गया। नरेन्द्र के लिए यह भयंकर आघात था। सारे परिवार पर जैसे मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा। "पिता का श्राद्ध आदि कर्म करने के उपरांत नरेन्द्रनाथ को पता चला कि उन लोगों की आर्थिक अवस्था भयावह है। पिताजी कुछ भी नहीं रख जा पाए हैं और काफी कर्ज़ छोड़ गए हैं। अच्छे दिनों के मित्रगण एवं पिता के अन्न से प्रतिपालित स्वजनवृंद इस दुर्दिन में अलग हट गए। पुरखों के घर के हिस्सेदार वैर साधन में लग गए। विश्वनाथ बाबू के पुत्रों ने देखा कि वे लोग उन लोगों की भाँति पैतृक हिस्सा होने पर भी उससे वंचित हो गए हैं।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खंड, पृ. 127) छः-सात व्यक्तियों के लिए अन्न जुटाने के प्रश्न के साथ-साथ कर्ज़दारों की भीड़ भी थी। तब नरेन्द्र को दरिद्रता का ज्ञान हुआ। नौकरी के लिए निरर्थक खोज और मित्रों की विमुखता का भी उसे ज्ञान हुआ।

माँ के द्वारा भगवान् की आलोचना सुनने के बाद नरेन्द्र का मन भी इस ओर से विमुख हो गया। एक प्रचण्ड विद्रोह की भावना नरेन्द्र के मन में उठी। उसने भगवान् के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। नरेन्द्र अपने इन विचारों को लोगों के सामने भी प्रकट करने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि न सिर्फ़ उसे नास्तिक के रूप में ही लोग जानने लगे बल्कि कुछ लोगों ने तो उसे शराबी और दुराचारी भी बना दिया। नरेन्द्र इस बेईमानी से और हठी हो गया और वह शराब और वेश्या का समर्थन करने लगा। नरेन्द्र को निन्दा, प्रशंसा की कोई परवाह नहीं थी। इस संबंध में उसका अपना कथन द्रष्टव्य है, "लोग कहने लगे कि मैं नास्तिक हो गया हूँ और दुष्ट लोगों के साथ मिलकर मदिरापान आदि दुराचरण करने लग गया हूँ। साथ ही साथ मेरा निर्मल अन्तःकरण वृथा निन्दा से कठोर हो उठा और किसी के बिना पूछे भी लोगों से मैं कहता फिरता था कि यदि कोई अपने दुख-कष्टों को कुछ समय तक भूल जाने के लिए मदिरा पीता है अथवा दिल बहलाने के लिए वेश्यागृह में जाता है, तो मैं उसमें कोई आपत्ति नहीं करूँगा और यदि मैं भी वैसे उपायों को अपनाने से दुख-कष्टों को भूल सकूँ, यह बात जिस दिन से मेरी समझ में आ जाएगी, उस दिन से मैं भी वैसे काम करने में पीछे नहीं हटूँगा।" (वही, पृ. 133)

तब उसने यह भी अनुभव किया कि साधारण मनुष्य की तरह धनोपार्जन के लिए उसका जन्म नहीं हुआ। उसे अपने दादा की तरह संन्यास ग्रहण करना चाहिए। जाने का दिन भी निश्चित हो गया पर उसी दिन परमहंस पड़ोस के एक मकान में आए। नरेन्द्र उनसे मिलने गया। परमहंस उसे अपने साथ दक्षिणेश्वर लेकर गए और कहा, "जानता हूँ, तू माँ के काम के लिए संसार में आया है। संसार में तू कभी नहीं रहेगा परन्तु जब तक मैं हूँ तब तक मेरे लिए रह।" नरेन्द्र आजीविका की चिन्ता में लगा रहा। एक अटॉर्नी के ऑफिस में कुछ काम करके और कुछ पुस्तकों के अनुवाद से थोड़ा पैसा मिलने लगा। लेकिन इतने बड़े परिवार के लिए यह काफी न था। नरेन्द्र पुनः दक्षिणेश्वर पहुँचा और परमहंस से प्रार्थना की कि उसके माँ-भाइयों का कष्ट दूर करने के लिए वे जगदम्बा से प्रार्थना करें। तब परमहंस ने उससे कहा कि तुम तो माँ को नहीं मानते इसलिए माँ नहीं सुनती। तुम आज काली मंदिर में जाकर जो कुछ माँगोगे वही वह

तुम्हें देगी। परमहंस के आग्रह से नरेन्द्र एक बार नहीं दो बाद, तीन बार मंदिर में गया पर वह एक बार भी स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रार्थना नहीं कर सका। मूर्ति-पूजा से घृणा करने वाला नरेन्द्र अन्त में खुद मूर्ति-पूजक बन गया। इस प्रकार प्रेम से तर्क पराजित हुआ।

इस संकटकाल में कुछ संबंधियों ने नरेन्द्र और उसके घरवालों को खूब सताया। उन लोगों ने छल-बल से उनके पैतृक मकान पर कब्ज़ा कर लिया। नरेन्द्र ने संबंधियों के विरुद्ध हाई कोर्ट तक मुकदमा लड़ा, जिसमें कई वर्ष लगे और तब वह मकान उन्हें मिला। तभी मैट्रोपोलिटन स्कूल की शाखा चंपातला मोहल्ले में खुली तब ईश्वरचंद्र विद्यासागर की सिफ़ारिश से नरेन्द्र वहाँ प्रधानाध्यापक हो गया। इससे पारिवारिक समस्या हल हो गई।

संन्यास की ओर

नरेन्द्र के परिवार की गाड़ी जब कुछ ठीक चलने लगी तो निश्चिंत होकर साधना, भजन, ग्रन्थ-पाठ आदि में उसका बहुत-सा समय बीतने लगा। समय मिलते ही वह रामकृष्ण का दर्शन कर आता था और साधना-मार्ग की अपनी कठिनाइयाँ उन्हें बता दिया करता था। रामकृष्ण भी अब क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए आदि विषयों के संबंध में उसे बड़े प्रेम से उपदेश दिया करते थे और साधना, भजन के साथ नरेन्द्र की आध्यात्मिक उन्नति बड़े वेग से होने लगी। नरेन्द्र और अधिक कठोर साधना करने लगा था। यह देखकर रामकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ और नरेन्द्र के ईश्वरानुराग तथा वैराग्य की वह सबसे प्रशंसा करने लगे।

एक दिन नरेन्द्र को बुलाकर परमहंस ने कहा, "देख, साधना करते समय मुझे अष्ट सिद्धियाँ मिली थीं। उनका किसी दिन कोई उपयोग नहीं हुआ, तू ले, समय पर तेरे उपयोग में आएँगी।"

नरेन्द्र ने पूछा, "महाराज, क्या उनसे भगवत प्राप्ति में कोई सहायता होगी?"

रामकृष्ण ने जवाब दिया, "नहीं, सो तो नहीं होगा, परन्तु इहलोक की कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी।"

तब नरेन्द्र ने फौरन कहा, "तो महाराज मुझे वे नहीं चाहिए।"

अब नरेन्द्र एक दार्शनिक तार्किक और उद्धत युवक के स्थान पर गुरु-

भक्त साधक बन गया था। अब वह उन पुस्तकों का अध्ययन करने लगा था जिनको पढ़ने से उसने कभी साफ़ इनकार कर दिया था। एक दिन परमहंस ने नरेन्द्र से पूछा, "तू क्या चाहता है?" उपयुक्त अवसर समझकर नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "शुकदेव की तरह सदा निर्विकल्प समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द सागर में डूबे रहने का मैं इच्छुक हूँ।" परमहंस ने तब नरेन्द्र से कहा, "बार-बार यही बात कहते हुए तुझे लज्जा नहीं आती? एक समय आएगा जब तू वटवृक्ष की तरह बढ़कर सैकड़ों लोगों को छाया देगा, पर तू आज अपनी ही मुक्ति के लिए व्यस्त हो उठा? इतना क्षुद्र आदर्श तेरा!" नरेन्द्र की विशाल आँखों में आँसू आ गए। उसने कहा, "निर्विकल्प समाधि न होने तक मेरा मन किसी भी तरह शांत नहीं होगा और यदि यही न हुआ तो वह सब-कुछ भी नहीं कर सकूँगा।"

"तू क्या अपनी इच्छा से करेगा? जगदम्बा तेरी गर्दन पकड़ करवा लेगी। तू न करे—तेरी हड्डियाँ करेंगी।" पर नरेन्द्र की प्रार्थना को वे टाल नहीं पाए। अन्त में बोले, "अच्छा जा निर्विकल्प समाधि होगी।"

एक दिन नरेन्द्र रोज़ की भाँति ध्यानस्थ बैठा था कि एकाएक समाधि लग गई। वह बिलकुल स्थिर बैठा हुआ था और उसकी दृष्टि नासाग्र पर जमी हुई थी। शरीर में प्राण के कोई भी चिह्न नहीं दिखाई दे रहे थे। डर के मारे घबराकर एक-दो सेवक रामकृष्ण से यह बात बताने के लिए दौड़कर उनके पास गए। तब उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा, उसको कुछ समय के लिए वैसे ही रहने दो। समाधि टूटी तो उसके हृदय में दिव्य आनन्द और शांति का प्रचंड प्रवाह बहने लगा। कृतज्ञता, आनंद, शांति से उसका हृदय भर गया था और उसके मुख से शब्द भी नहीं निकलता था। इस प्रकार परमहंस की कृपा से नरेन्द्र ने जीवन का ध्येय प्राप्त कर लिया था।

1885 में रामकृष्ण के गले में कैंसर हो गया। डॉ. महेन्द्रलाल सरकार का इलाज था, पर रोग कम होने के बजाय बढ़ता चला गया। उन्हें पहले कलकत्ता के एक मकान में और फिर काशीपुर के उद्यान भवन में रखा गया। नरेन्द्र ने अध्यापन कार्य छोड़ दिया और दूसरे शिष्यों के साथ काशीपुर में रहने लगा। दिन-रात गाना-भजन चलता रहता और नरेन्द्र भावोन्मत्त होकर गीत गाकर भक्तों को आनन्द प्राप्त कराता।

रामकृष्ण के पास कुछ शिष्य ऐसे थे जो उनके पास रहते थे। गुरु-सेवा करते-करते उनमें प्रेम संबंध दृढ़ हो गया था। एक दिन इसी उद्यान भवन में रामकृष्ण संघ की नींव रखी गई। अपने इन 12 तरुण शिष्यों को गेरुए वस्त्र पहनाकर रामकृष्ण ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और उनके नेता नरेन्द्र से कहा, "क्या तुम लोग सम्पूर्ण निरभिमान बनकर भिक्षा की झोली कंधे पर लिए राजपथों पर भिक्षा माँग सकोगे?" वे लोग उसी समय भिक्षा माँगने निकल पड़े। उसी कलकत्ता में जहाँ उन्होंने जन्म लिया, शिक्षा ग्रहण की। उन्हें जो अन्न मिला उसे पकाकर परमहंस के सामने रखा और फिर प्रसाद ग्रहण किया। उस दिन उनके आनन्द का कोई ठिकाना न था और इस प्रकार नरेन्द्र ने संन्यास ग्रहण करके अपने नए जीवन का प्रारम्भ किया।

अपनी मृत्यु से तीन-चार दिन पहले रामकृष्ण ने नरेन्द्र को अपने समीप बुलाकर उसके साथ एकांत में रहने की इच्छा प्रकट की। नरेन्द्र को प्रेम भरी दृष्टि से देखकर समाधिष्ट हो गए। उन्होंने नरेन्द्र को भी अपने प्रभाव से आच्छन्न कर लिया। जब वह उनके प्रभाव से मुक्त हुआ तो उसने उन्हें कहते सुना, "आज मैंने तुम्हें अपना सब-कुछ दे दिया है और अब मैं सर्वस्वहीन एक गरीब फकीर मात्र हूँ। इस शक्ति से तुम संसार का महान कल्याण कर सकते हो और जब तक तुम वह सम्मान न प्राप्त कर लोगे, तब तक तुम न लौटोगे।" अन्तिम दिनों में उन्होंने कहा, "मेरी शिक्षा प्रायः समाप्त हो गई है। मैं दूसरों को शिक्षा नहीं दे सकता।" रविवार 15 अगस्त, 1886 को रामकृष्ण परमहंस ने महासमाधि ले ली। इस प्रकार एक सूर्य अस्त हो गया। वे अपना समस्त ज्ञान और 'खोल' अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी नरेन्द्र को दे गए। नरेन्द्र को विवेकानन्द बनाने में परमहंस ने जो भूमिका अदा की, रोमाँ रोलाँ ने उसका उल्लेख इस प्रकार किया है, "जो धारा विवेकानन्द की असाधारण नियति को गढ़ रही थी, वह धरती के पेट में ही समा गई होती यदि रामकृष्ण की अचूक दृष्टि ने मानो अमोघ बाण की भाँति पथ-रोधक चट्टान को फोड़कर शिष्य की आत्मा के प्रवाह को मुक्त न कर दिया होता।" (विवेकानन्द, रोमाँ रोलाँ, पृ. 28)

रामकृष्ण की मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद काशीपुर का उद्यान भवन खाली करना पड़ा। रामकृष्ण के शिष्य दो प्रकार के थे—एक वे जिन्होंने संन्यास धारण किया था और उनकी संख्या 12 थी। नरेन्द्र उनमें एक थे।

दूसरे, इतनी ही गिनती उन शिष्यों की थी जो गृहस्थ थे। समस्या संन्यासियों की थी। सुरेन्द्रनाथ मित्र ने एक मकान बराह नगर में किराए पर ले लिया। इन संन्यासियों के भोजन तथा दूसरी आवश्यकताओं को पूरा करने की ज़िम्मेदारी भी सुरेन्द्रनाथ ने उठाई। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी ये संन्यासी पूजा, ध्यान और जप बराबर करते रहे। परमहंस इन संन्यासियों की ज़िम्मेदारी नरेन्द्र पर छोड़कर गए थे और नरेन्द्र गुरु-भाइयों की शिक्षा-दीक्षा तथा देखभाल का पूरा ध्यान रखते थे पर वे रहते घर पर थे। नरेन्द्र के इस उदाहरण को लेकर कुछ दूसरे संन्यासी भी घर लौटकर परिवार वालों के साथ रहने और परीक्षा की तैयारी करने लगे। मठ टूटने के कगार पर आ गया। तब नरेन्द्र ने सभी पारिवारिक संबंधों को झटककर 23-24 वर्ष की आयु में 1886 के दिसम्बर में स्थायी रूप से मठ में आकर रहना शुरू कर दिया। इससे नरेन्द्र के बारे में जो भ्रांतियाँ दूसरों के मन में पैदा हुई थीं वे तो दूर हो ही गईं, जो युवा संन्यासी अपने घर चले गए थे वे पुनः मठ में लौट आए। अब वे सब नरेन्द्र की देखभाल में दर्शनशास्त्र, वेदान्त, कुरान, भागवत के पाठ तथा जप, ध्यान और कठोर तपस्या आदि में लग गए।

इस प्रकार डेढ़ वर्ष बीत गया। अब एक नयी प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा। युवा संन्यासी नीरस वाद-विवाद और निर्जीव पुस्तकों से उकता गए। दो-एक संन्यासी चुपचाप बिना किसी को कानोंकान खबर किए तीर्थ-भ्रमण को चल दिए। फिर एक दिन बहुत छोटी उम्र का संन्यासी सारदा प्रसन्न गुप्त रूप से मठ छोड़ के चला गया। अपने पीछे वो एक पत्र छोड़ गया जिसे पढ़कर नरेन्द्र को एक ज़बरदस्त झटका लगा और एक और ज़ंजीर टूट गिरी। नरेन्द्र ने सोचा, 'ये तो सभी तीर्थ-भ्रमण का आग्रह कर रहे हैं। इससे तो मठ का नाश ही हो जाएगा। ठीक है, होने दो। मैं कौन हूँ, इन्हें बाँधकर रखने वाला?' नरेन्द्र ने स्वयं मठ छोड़कर दूर चले जाने का संकल्प कर लिया। अतः वे भी तीर्थ-भ्रमण को निकल पड़े। नरेन्द्र ने अपना मूल नाम बदलकर विविदिशानंद रख लिया। "स्वामी अभेदानन्द के मतानुसार 1887 ई. के जनवरी महीने में नरेन्द्रनाथ ने संन्यास धारण कर स्वामी विविदिशानन्द नाम ग्रहण किया था। फिर भी आनुष्ठानिक रूप से नाम बदल जाने पर भी नया नाम उस समय व्यापक रूप से व्यवहृत हुआ था इसका कोई प्रमाण

नहीं मिलता। बल्कि, हम जानते हैं कि परिव्राजक के रूप में भारत का परिभ्रमण करने के दिनों में वे अपना परिचय गुप्त रखने के लिए विभिन्न नामों का सहारा लेते और यह भी जाना जाता है कि कुछ दिनों तक विविदिशानन्द नाम का व्यवहार करने के बाद उसको छोड़कर उन्होंने स्वामी विवेकानन्द नाम ग्रहण किया। बाद में किसी समय विवेकानन्द नाम का परित्याग नहीं करने पर भी वे सच्चिदानन्द नाम का व्यवहार करते थे। सब से अन्त में अमेरिका जाने के पूर्व उन्होंने स्वामी विवेकानन्द नाम को स्थायी रूप से ग्रहण किया और इसी नाम से वे विश्ववरेण्य हुए। किन्तु उनके बंधु-बांधव और शिष्यगण उन्हें स्वामीजी कहकर संबोधित किया करते।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ. 201) इस प्रकार युवक नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द हो गए।[1]

देश-भ्रमण

विवेकानन्द 1888 के प्रथम भाग में बराह नगर से परिव्राजक रूप में भ्रमण के लिए निकले। बिहार और उत्तर प्रदेश में घूमते हुए वे मुख्य तीर्थ काशी पहुँचे। वहाँ उनका परिचय भूदेव मुखोपाध्याय, स्वामी भास्करानंद आदि से हुआ। काशी में कुछ देर रहकर वे बराह नगर मठ में लौट आए। जब वे पुनः काशी आए तो उनके एक गुरुभाई अखण्डानंद ने उनका परिचय प्रमदादास मित्र से करवाया। प्रमदादास संस्कृत भाषा, साहित्य और वेदांत दर्शन के प्रकांड पंडित थे। विवेकानंद उनसे बहुत प्रभावित हुए और लगभग आठ वर्ष तक उनसे उनका पत्र-व्यवहार होता रहा। शास्त्र संबंधी कोई संदेह,

---

1. ...बहुत कम लोगों को इस बात का पता होगा कि नरेन्द्र दत्त ने खेतड़ी के राजा अजीत सिंह के सुझाव पर ही विवेकानन्द का नाम ग्रहण किया था। नरेन्द्र दत्त, जिसने पहले विविदिशानन्द का नाम ग्रहण किया हुआ था, राजा अजीतसिंह को 1891 में आबू पर्वत पर मिला था। राजा पर इस युवक संन्यासी की धर्मनिष्ठा और विद्वता का बहुत प्रभाव पड़ा। उसने उसे खेतड़ी आने के लिए मना लिया। पर राजा ने इस युवक संन्यासी को साथ ही यह भी बताया कि आपके नाम का उच्चारण बहुत कठिन है। उसने एक और नाम विवेकानन्द का प्रस्ताव किया जिसे स्वीकार कर लिया गया। विविदिशानन्द विवेकानन्द बन गया जो बाद में एक महान संत, फिलासफर और सामाजिक तथा धर्म सुधारक सिद्ध हुआ। (पृ. 116-117) राजस्थान : ले. धर्मपाल

कोई समस्या उठ खड़ी होती तो विवेकानंद उसका समाधान उनसे पूछा करते। आठ वर्ष के बाद उनका ये संबंध समाप्त हो गया। काशी से तीर्थयात्रा प्रारम्भ करके और उत्तर भारत के कई स्थानों पर होते हुए वे सरयू नदी के तट पर स्थित अयोध्या पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रुककर वे लखनऊ और आगरा होते हुए पैदल ही वृंदावन की ओर चल पड़े। वृंदावन के मार्ग पर चलते हुए एक दिन उन्होंने एक व्यक्ति को तम्बाकू पीते देखा। उनका मन भी कश लगाने को ललचाया और हाथ बढ़ाकर उस आदमी से चिलम माँग ली। उसके यह कहने पर कि वह भंगी है विवेकानंद के जन्मजात संस्कार आगे आए और बढ़ा हुआ हाथ पीछे हट गया। जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाते हुए वे आगे बढ़े, पर कुछ ही दूर गए होंगे कि मन ने धिक्कारा, 'अरे तूने तो जाति, कुल, मान सभी को त्यागकर संन्यास ले लिया है। फिर मेहतर से घृणा कैसी? ये जाति अभिमान क्यों?' विवेकानन्द उल्टे पाँव उस व्यक्ति के पास आए। उससे चिलम भरवाकर बड़े प्रेम और आनन्द से तम्बाकू पिया। इसके बाद वे अपनी यात्रा में भंगी, चमारों के झोंपड़ों में रातों को ठहरे और उनके मन में छुआछूत का विचार फिर कभी नहीं आया। विवेकानंद इस घटना को कभी नहीं भूले। वे प्रायः इस घटना का वर्णन अपने शिष्यों से करते। हिन्दी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने इस घटना पर 'जूठी चिलम' नाम से एक कविता भी लिखी है।

वृंदावन में थोड़े दिन रहकर वे हाथरस आए तो वहाँ के नौजवान स्टेशन मास्टर शरच्चंद्र गुप्ता से अचानक उनकी भेंट हो गई। वह उन्हें अपने घर ले गया। कुछ दिन विवेकानंद उसके यहाँ ठहरे। जब वे वहाँ से चले तो शरच्चंद्र उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। वह पिता की आज्ञा लेकर विवेकानंद का पहला शिष्य बना और दण्ड-कमण्डलु लेकर उनके साथ चला। उसका संन्यासी नाम स्वामी सदानंद रखा गया। बाद में वह गुरु के बुलाने पर अमरीका भी गया और वेदांत प्रचार में उनका हाथ भी बँटाया। सदानंद संन्यासी जीवन और यात्रा की कठिनाइयों का अभ्यस्त नहीं था, इसलिए बीमार पड़ गया। विवेकानंद उसे लिए घूमते रहे और अंत में स्वयं बीमार पड़ गए। दोनों हाथरस लौटे। स्वस्थ होकर पहले विवेकानंद और फिर सदानंद बराह नगर मठ में लौट आए। वहाँ विवेकानंद एक वर्ष तक रहे। इस बीच उन्होंने छोटी-छोटी यात्राएँ कीं। फरवरी 1889 में वे रामकृष्ण की जन्मभूमि

कामारपुकुर, श्रीमाता शारदापाणि की जन्मभूमि जयरामवटी गए। वहाँ से लौटते समय वे बीमार हुए और काफी दिन चारपाई नहीं छोड़ पाए। जुलाई में शिमलतुल और दिसम्बर के अंत में वैद्यनाथ और इलाहाबाद गए। 1890 में गाजीपुर की दो बार यात्रा की, जो दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण है। 21 जनवरी, 1890 को वे गाजीपुर पहुँचे। वहाँ एक प्रसिद्ध योगी पवहारी बाबा के दर्शन करके विवेकानंद धन्य हो गए। बाबाजी की उन पर कृपा हुई। उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गई। वे पवहारी बाबा से योग शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे और पवहारी बाबा ने इस आग्रह को स्वीकार कर लिया था। विवेकानंद जब इस शिक्षा को ग्रहण करने के लिए बाबा के पास जाने को तैयार हुए तो अचानक उनके मन में प्रश्न उठा, रामकृष्ण परमहंस या पवहारी बाबा? इस प्रश्न के उठते ही उनका उत्साह शिथिल हो गया और फिर अंधकार में उन्हें गुरु परमहंस दिखाई दिए। अपने गुरु का ये दिव्य दर्शन उन्हें मस्तिष्क का भ्रम लगा। दूसरे दिन फिर यही सब हुआ। यह क्रम 21 दिन तक जारी रहा। अंत में स्वामी विवेकानंद ने हार मानी और पश्चाताप करके प्रार्थना करने लगे, "गुरुदेव मैं और किसी के पास नहीं जाऊँगा। तुम्हीं मेरे एकमात्र देवता हो। इस दास की मानसिक दुर्बलता से उत्पन्न अपराध को क्षमा करें।" निस्संदेह पवहारी बाबा का मार्ग विवेकानंद का मार्ग नहीं था।

इस बार विवेकानंद ने यह संकल्प लिया कि उन्हें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक पूरे देश की यात्रा करनी है। जब तक यह यात्रा पूरी नहीं हो जाती वे लौटकर मठ में नहीं आएँगे। गुरुभाइयों के लाख कहने पर भी वे इस निश्चय पर अडिग रहे। जुलाई 1890 में वे अपने गुरुभाई अखण्डानंद के साथ पुनः यात्रा पर रवाना हुए। वे भागलपुर से देवघर और देवघर से काशी पहुँचे। वहाँ से वे अयोध्या, नैनीताल, बद्री और केदार होते हुए अल्मोड़ा पहुँचे। छः महीने तक विभिन्न स्थानों पर रहने के बाद और हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द ग्रहण करने के बाद वे कन्याकुमारी की ओर जाने के लिए फिर नीचे उतरे। मेरठ में एक सेठ के बगीचे में कुछ दिन रहने के बाद उन्होंने अपने गुरुभाइयों से कहा कि उनकी इच्छा अकेले यात्रा करने की है अतः उनमें से कोई भी उनके साथ न आए। फरवरी 1891 में वे अकेले ही यात्रा पर चल पड़े। इस यात्रा का संक्षिप्त वर्णन रोमाँ रोलाँ ने कुछ इस प्रकार किया है—

"उनका यात्रा-पथ उन्हें राजपूताना, अलवर (फरवरी-मार्च), जयपुर, अजमेर, खेतड़ी, अहमदाबाद और काठियावाड़ (सितम्बर के अंतिम दिन), जूनागढ़ और गुजरात, पोरबंदर (आठ-नौ महीने का प्रवास) द्वारका, पालिताना (खम्भात की खाड़ी से सटा मंदिर–बहुल नगर), रियासत बड़ौदा, खंडवा, बम्बई, पूना, बेलगाम (अक्तूबर 1892), बंगलौर, कोचीन, मलाबार, रियासत त्रिवांकुर, तिरुअनन्तपुरम, मदुरा ले गया। उन्होंने विराट भारतीय अन्तरीप का अंतिम छोर छू लिया, जहाँ दक्षिण का वाराणसी, रामायण का रामेश्वरम है और फिर उसके भी आगे कन्याकुमारी की समाधि तक वे चलते चले गए (1892 के अंतिम दिन)" (विवेकानन्द : रोमाँ रोलाँ, पृ. 57-58) यात्रा के दौरान विवेकानंद को अनेक अनुभव हुए। हंसराज रहबर ने इस संदर्भ में लिखा है, "विवेकानन्द ने अपनी इस यात्रा में भारत की जनता को हर रूप में देखा। दलित और दरिद्र के झोंपड़ों ही में नहीं, वे राजा-महाराजाओं के प्रासाद-भवनों में भी रहे, जिन्होंने उन्हें फूलों की तरह रखा। विद्वानों के अतिथि बनकर उनके साथ ज्ञानचर्चा की और उनसे आदर-सम्मान पाया। वे चोर-उचक्कों तथा बटमारों की संगत में भी रहे और उनमें ऐसे-ऐसे उदात्त चरित्र व्यक्ति देखे जिन्हें अगर उचित वातावरण तथा अनुकूल परिस्थितियाँ मिल जातीं तो जाने क्या से क्या हो जाते। इस यात्रा में उन्होंने बहुत कुछ सीखा।" (हंसराज रहबर : योद्धा संन्यासी विवेकानन्द, पृ. 68) इस यात्रा के मध्य हुए अनेक अनुभवों में से एक विशेष घटना का और उसके विवेकानन्द की विचारधारा पर प्रत्यक्ष प्रभाव को अभिव्यक्त करने के लिए यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। यह घटना खेतड़ी की है।[1] "एक शाम को एक नर्तकी गाने गाकर राजा का मनोविनोद कर रही थी। संगीत शुरू होने के समय स्वामीजी अपने कमरे में थे। राजा ने उन्हें संगीत-सभा में आने के लिए अनुरोध-भरा बुलावा भेजा परन्तु स्वामीजी ने कहला भिजवाया कि संन्यासी के लिए इस सभा में उपस्थित रहना उचित नहीं है। यह सुनकर गायिका

1. यहाँ खेतड़ी के राजा अजीतसिंह का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि विवेकानन्द के जीवन में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। केवल विवेकानन्द नामकरण ही नहीं, अन्य कई अवसरों पर राजा अजीतसिंह उनके अभिन्न सहायक बनकर आये। स्वयं विवेकानन्द ने स्वीकार किया है कि "भारतवर्ष की उन्नति के लिए मैंने थोड़ा-बहुत जो किया है, वह संभव नहीं होता, यदि मेरी मुलाक़ात खेतड़ी के राजा से नहीं हुई होती।"

अत्यन्त मर्माहत हो गयी और स्वामीजी के कथन के प्रत्युत्तर के बहाने ही मानो गाने लगी—

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अब मोहि पार करो।।

इस गीत ने स्वामीजी के हृदय को आकुल-व्याकुल कर दिया। इस गीत के द्वारा बाईजी (गणिका) मानो उन्हें एक उपेक्षित सत्य का स्मरण करा रही थी—संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', सभी वस्तुओं के पीछे एक अभिन्न ब्रह्मसत्ता विराजित है, यहाँ तक कि एक घृणिता नारी में भी वे विद्यमान हैं। अतएव स्वामीजी उस संगीत-सभा में आकर सबके बीच बैठ गए। इस घटना का उल्लेख कर उन्होंने बाद में कहा था, 'गीत सुनकर मेरे मन में हुआ कि क्या यही मेरा संन्यास है? मैं संन्यासी हूँ, तथापि मुझमें और इस नारी के बीच मेरा भेद-ज्ञान बचा रह गया है। उस घटना से मेरी आँखें खुल गयीं। समस्त वस्तुएँ उस एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति हैं, यह जानकर मैं फिर किसी की निन्दा करने से तो रहा।' गीत सुनकर स्वामीजी ने बाईजी को कहा—माँ, मैंने अपराध किया है, आपसे घृणा कर उठकर जा रहा था। आपके भजन ने मेरी चेतना को जगा दिया।'' (गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, पृ. 354-355)

इस यात्रा में और फिर बाद में पश्चिम की यात्रा में जैसे-जैसे विवेकानन्द का पूर्वाग्रह टूटता गया वैसे-वैसे वे मनुष्य के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करते रहे। उन्होंने शोषित व उत्पीड़ित वर्गों के अभाव और अपमान में हिस्सा बँटाया, उनके दुख-दर्द को अपना दुख-दर्द समझकर महसूस किया। विवेकानंद को इस यात्रा में जीर्णवसना भारतमाता का साक्षात्कार हुआ। एक बार वे कलकत्ता में किसी व्यक्ति के भूख से मर जाने की खबर पढ़कर फूट-फूटकर रोए और कातर स्वर में चिल्ला उठे—मेरा देश, मेरा देश, मेरा देश! अपनी संवेदनशीलता के बारे में स्वयं विवेकानन्द ने कहा है, ''शायद आप नहीं जानते कि मैं कठोर वेदांती विचारों का होते हुए भी बहुत ही कोमल हृदय हूँ, और इसी से मेरा बड़ा अनिष्ट होता है। थोड़ा ही आघात मुझे विचलित कर देता है, क्योंकि मैं कितना ही स्वार्थपरायण रहने का प्रयत्न करूँ, दूसरे की हानि-लाभ देखते ही मेरा सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता

है।" (विवेकानन्द साहित्य-1, पृ. 364)

विवेकानन्द की इस बात का परिचय देने वाली एक छोटी-सी घटना का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। अपने आत्मीय बलराम बाबू की मृत्यु के समाचार से उनकी आँखों में आँसू आ गए। उनके मित्र प्रमदा बाबू ने जब यह कहा, "ये क्या स्वामीजी! आप संन्यासी हैं—शोकार्त होना आपको शोभा नहीं देता।" तब स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आप क्या कहते हैं? संन्यासी हुआ हूँ, इसलिए क्या हृदय त्याग दूँ? प्रकृत संन्यासी के हृदय को साधारण व्यक्ति के हृदय की अपेक्षा और भी अधिक कोमल होना चाहिए। जो हो, मैं मनुष्य तो हूँ! और फिर वे मेरे गुरुभाई जो थे। पत्थर की तरह अनुभूति-शून्य संन्यासी का जीवन मेरे लिए ईप्सित नहीं है।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, दूसरा खण्ड, पृ. 41) इस संदर्भ में हंसराज रहबर ने लिखा है, "वे संन्यासी वेश में हमेशा अनुभूतिशील मनुष्य बने रहे, उनका हृदय कोमल से कोमलतर होता चला गया। जिसमें भारत की समूची शोषित, उत्पीड़ित, दलित और दरिद्र जनता की पीड़ा समा गई और फिर इस पीड़ा से वे आजीवन विक्षुब्ध और व्याकुल रहे।" (हंसराज रहबर : योद्धा संन्यासी विवेकानन्द, पृ. 70)

विवेकानंद यह सोचकर देश-भ्रमण पर निकले थे कि वे धर्म-प्रचार द्वारा भारत को सोते से जगायेंगे और विभिन्न मतवादों में विभाजित जातियों, सम्प्रदायों तथा धर्मों में अद्वैत वेदांत की शिक्षा द्वारा एकता स्थापित करेंगे। यही कार्य उनके गुरु सौंप गये थे। पर इस देश-भ्रमण के दौरान उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि भारत की जीर्ण-शीर्ण जनता अज्ञान के अंधकार में, अन्न के अभाव में भूख से तड़प रही है। धर्म बाद की बात है, पहला काम उसके अज्ञान और भूख को दूर करना है।

अपनी इस यात्रा में उन्होंने धनी, राजा-महाराजा से द्वार-द्वार जाकर प्रार्थना की थी कि देश के ग़रीबों, दीन-दुखियों की सहायता करो। पर किसी ने उनकी प्रार्थना पर कान नहीं धरा और मौखिक सहानुभूति के सिवा कुछ हाथ नहीं लगा।

अब उन्होंने सोचा कि पाश्चात्य देशों के पास धन बहुत है, पर धर्म का अभाव है। मैं वहाँ जाकर उन्हें वेदान्त की शिक्षा दूँगा और उसके बदले में उनसे कहूँगा—भारत की अपढ़, दरिद्र जनता के लिए धन दो, धन दो!

और धन मिल जाएगा।

इसी बात को ध्यान में रखकर जब विवेकानंद कन्याकुमारी से मद्रास लौटे तब उन्होंने लोगों के सामने अपनी इस इच्छा को प्रकट किया। वास्तव में शिकागो में एक महासम्मेलन होने जा रहा था। इस सम्मेलन के साथ ही एक विराट विश्व धर्म सभा का आयोजन होना था। इसमें संसार के सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर अपने धर्म-सम्प्रदाय की तात्त्विक विवेचना के द्वारा अपने विचार प्रस्तुत कर सकेंगे। मद्रास के उत्साही शिष्यों ने उनसे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में इस सभा में जाने का आग्रह किया। मद्रास के शिष्यों ने और अमीर लोगों ने जब उन्हें आर्थिक सहायता देनी चाही तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, "मैं देश की जनता, निर्धन जनता का प्रतिनिधि बनकर जा रहा हूँ इसलिए मध्यवित्त जनता से ही सहायता लेना उचित होगा।" ज्यों-त्यों करके धन एकत्रित हुआ और 31 मई, 1893 को वे बम्बई से अमेरिका के लिए जहाज पर सवार होकर चल पड़े।

विदेश यात्रा

जहाज में यात्रा करते समय स्वामीजी को शुरू-शुरू में कुछ परेशानियाँ हुईं लेकिन शीघ्र ही वे इनसे मुक्त हो गए। सात दिन के बाद उनका जहाज कोलम्बो पहुँचा। जहाज वहाँ रुका तो वे सारे नगर को देख आए। कोलम्बो से जहाज हांगकांग पहुँचा। जहाज वहाँ तीन दिन ठहरा। इस बीच वे दक्षिणी चीन की राजधानी कैंटन और फिर जापान देख आये। नागासाकी, याकोहामा, ओसाका, कियोटो तथा टोकियो आदि नगरों को देखकर वे मन ही मन जापानियों की प्रशंसा किए बिना न रह सके। याकोहामा से चलकर जहाज वैंकुवर बंदरगाह में आ पहुँचा। यहाँ से रेल-यात्रा प्रारम्भ हुई जो कैनेडा से होती हुई तीन दिन में शिकागो पहुँची। स्वामीजी का भेष वहाँ के लोगों के लिए आश्चर्य और हास्य का पात्र बन गया। वैंकुवर से ही स्वामीजी का मोहभंग प्रारम्भ हो गया था। उन्होंने लिखा है, "यहाँ आने से पूर्व मैं जो सुहाने स्वप्न देखा करता था वे अब टूट गए हैं। अब मुझे असम्भव अवस्थाओं से संघर्ष करना पड़ता है। सैकड़ों बार इच्छा हुई कि मैं इस देश से चल दूँ और भारत लौट आऊँ।"

शिकागो में ही उन्हें ये सूचना मिली कि जिस धर्म सभा में भाग लेने के लिए वे यहाँ आए हैं वह सितम्बर माह से पहले प्रारम्भ नहीं होगी और जो लोग इस सभा में सम्मिलित होना चाहते हैं, उनके पास विधिवत परिचय-पत्र होने आवश्यक हैं, अन्यथा वे सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त उस समय तक धर्म सभा में प्रतिनिधित्व करने के लिए आवेदन-पत्र देने की तिथि भी निकल चुकी थी। अतः वे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग नहीं ले सकेंगे। स्वामीजी को शिकागो से बोस्टन जाना पड़ा। इस यात्रा में उनका परिचय एक भद्र वृद्ध महिला से हुआ। श्रद्धावश वही महिला उन्हें अपने घर ले गई। इसी महिला के मकान पर एक दिन हार्वर्ड विश्वविद्यालय में यूनानी भाषा के प्रो. जे. एच. राइट आए। स्वामीजी ने जब उन्हें धर्म सभा से संबंधित अपनी समस्या बताई तो उन्होंने अपने एक मित्र श्री वर्नी के नाम एक पत्र लिख दिया।

पुनः शिकागो पहुँचकर उन्हें एक नई समस्या का सामना करना पड़ा। दफ़्तर का पता उनसे खो गया था। उन्होंने लोगों से पूछने की कोशिश की लेकिन असफलता हाथ लगी। भूख से उनका बुरा हाल था और रहने का कोई ठिकाना न था। वे थके-हारे सड़क के किनारे एक जगह बैठ गए। सहसा उनके सामने सड़क पर स्थित विशाल भवन का द्वार खुला। एक भद्र महिला ने स्वामीजी के पास आकर पूछा कि क्या आप धर्म सभा में सम्मिलित होने के लिए आए हैं? स्वामीजी ने संक्षेप में अपना परिचय और कठिनाइयाँ कह सुनाईं। इस भद्र महिला श्रीमती जॉर्ज डब्ल्यू. हेल ने न केवल उन्हें भोजन करवाया बल्कि उन्हें धर्म सभा के दफ़्तर में भी ले गईं। इस प्रकार 1893 ई. को 11 सितम्बर का दिन आ पहुँचा। धर्म सभा में स्वामी विवेकानंद का पहला व्याख्यान शुरू हुआ। जहाँ शेष सभी प्रतिनिधियों ने श्रोताओं को पारम्परिक संबोधनों 'महिलाओ तथा श्रीमानो' पुकारा था, वहाँ पहली बार स्वामीजी ने उन्हें 'भाइयो और बहनो' कहकर पुकारा। यह सम्बोधन पश्चिम के लोगों के लिए न केवल नया था बल्कि गहरी आत्मीयता से भरा था। केवल इतने से सम्बोधन पर सारे हॉल में तालियाँ गूँज उठीं। स्वामीजी के भाषण ने सबको मंत्र-मुग्ध कर दिया। धर्म सभा का कार्यक्रम कुछ दिनों बाद जब समाप्त हुआ तो स्वामीजी की लोकप्रियता, प्रसिद्धि और भाषण कला की जादूगरी सारे विश्व में फैल चुकी

थी। समाचार-पत्र उनकी प्रशंसा करते न थकते थे। स्वामीजी से प्रभावित होकर एक व्याख्यान कम्पनी ने, स्वामीजी को अमेरिका के प्रमुख नगरों में व्याख्यान देने के लिए अनुबंधित किया। स्वामीजी ने इसे स्वीकार किया लेकिन कुछ ही समय बाद उन्होंने स्वयं को इससे मुक्त करवा लिया। धर्म सभा में स्वामीजी की असाधारण सफलता का मुख्य कारण उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति थी जिसके कारण उन्हें चलता-फिरता विश्वकोश कहा जाता था। स्वामीजी की इस स्मरणशक्ति के कई उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।

शिकागो धर्म सभा की समाप्ति के बाद भी लगभग एक वर्ष तक स्वामीजी नगर-नगर घूमकर व्याख्यान देते रहे। शिकागो, न्यूयॉर्क और बोस्टन के आस-पास स्थित नगरों में उनके व्याख्यान होते रहे। ब्रुकलिन तथा वॉशिंगटन में भी उन्होंने अपने भाषण दिए। अंततः घूम-घूमकर व्याख्यान देना बंद करके उन्होंने स्थाई रूप से योग और वेदांत की शिक्षा देने के लिए न्यूयॉर्क में कक्षाएँ शुरू कर दीं। यहीं उन्होंने राजयोग संबंधी व्याख्यान दिए जिनसे 'राजयोग' नामक पुस्तक तैयार हो गई। स्वामीजी इंग्लैंड गए। लंदन में व्याख्यान दिए, जहाँ उन्हें कुमारी मार्गरेट ई. नोबल जैसी विदुषी महिला मिली। बाद में यही स्वामीजी की शिष्या बनकर भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इसी प्रकार उनके व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने वाले गुडविन बाद में उनके शिष्य हो गए। स्वामीजी के आज जितने संग्रह उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश को लिपिबद्ध करने का श्रेय श्री गुडविन को ही है। इस विदेश यात्रा में दो बातें अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहीं। एक श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा आमंत्रित होकर स्वामीजी ने उनके भवन में भक्ति पर व्याख्यान दिया। श्रीमती एनी बेसेंट ने ही उन्हें 'योद्धा संन्यासी' कहकर पुकारा था। (देखिए स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, दूसरा खण्ड, पृ. 41) दूसरा, ऑक्सफोर्ड में वेद विद्या के आचार्य विश्वविख्यात प्राध्यापक श्री मैक्समूलर से मुलाक़ात। मैक्समूलर और स्वामीजी के बीच पत्र-व्यवहार होता रहा और दोनों में मैत्री भाव बना रहा। विश्राम के उद्देश्य से स्वामीजी स्विट्ज़रलैंड भी गए। जर्मनी के कील नगर के विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रधानाध्यापक पॉल हडसन के निमंत्रण पर स्वामीजी कील भी गए।

स्वामीजी को प्रति सप्ताह कम से कम 12-14 और कभी-कभी इससे भी अधिक भाषण देने पड़ते थे। उनको कभी-कभी ऐसा भी लगता था कि वे कौन-सी बात लोगों को बताएँ। पर उनके अन्दर कोई ऐसी शक्ति थी जो उनका संचालन कर रही थी और वे भाषण देते रहते थे। स्वामीजी में भारत लौटने की इच्छा प्रबल होने लगी और अन्ततः 16 दिसंबर को वह लंदन से विदा हुए। इटली में उन्होंने शिल्प और स्थापत्य के बढ़े-चढ़े रूपों को देखा। फिर वे रोम गए। वहाँ एक सप्ताह का उनका प्रवास रहा और 30 दिसंबर को स्वामीजी ने अपने सहयोगियों के साथ भारत के लिए यात्रा की और यूँ चार वर्ष की इस विदेश यात्रा की समाप्ति हुई।

जिस समय स्वामी विवेकानन्द विदेश गए उस समय वहाँ भारत की छवि अत्यंत घृणित थी। "उन दिनों विदेशी समाज में और भी एक बड़ा भ्रम फैला हुआ था कि हिन्दू योगीगण विविध प्रकार की अलौकिक और चमत्कारिक घटनाएँ दिखा सकते हैं। हिन्दू धर्म को उन दिनों एक वास्तविक जीवन-दर्शन नहीं, बल्कि चमत्कारों का एक भण्डार माना जाता था और उनकी दृष्टि में सच्चा तो एकमात्र ईसाई धर्म ही था। स्वामीजी को बड़ी ही स्पष्ट भाषा में इस मनोभाव का खण्डन करना पड़ा और बारम्बार अनुरोध किए जाने पर भी उन्होंने अपने मत के प्रचार हेतु चमत्कार का सहारा नहीं लिया।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, दूसरा खण्ड, पृ. 74) विवेकानन्द के विदेश-भ्रमण का सबसे बड़ा लाभ यही हुआ कि उन्होंने विदेशियों के मन में बनी हुई भारत की एक भ्रांत छवि को तोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया और साथ ही यह भी सिद्ध किया कि भारत में उन जैसे लोग भी हैं जो बौद्धिक, आध्यात्मिक और तर्क के धरातल पर उनसे कहीं आगे हैं। अपने सौम्य व्यवहार से उन्होंने न केवल विदेशियों का मन जीता वरन् अपना शिष्य भी बनाया। भारत की आज की वर्तमान छवि बनाने में विवेकानन्द का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विवेकानन्द की इस उपलब्धि को नकारा नहीं जा सकता।

आगे बढ़ने से पूर्व यहाँ कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। शिकागो महासभा के दिनों से ही विवेकानन्द को यश के साथ-साथ अपयश का भी सामना करना पड़ा था। उनका मार्ग उतना आसान नहीं था जितना लोग समझते हैं। उन्हीं दिनों से उनके शत्रुओं की संख्या में काफी वृद्धि

हो गई थी। ईर्ष्या, स्वार्थ में विघ्न तथा अपने मत को श्रेष्ठ प्रतिष्ठित करने में बाधा के कारण ही अनेक लोग उनके प्रति विद्वेष का भाव रखते थे। पूरे अमेरिका में स्वामीजी की प्रसिद्धि से भयभीत होकर कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों ने नगर-नगर में घूमकर उनके विरुद्ध प्रचार किया। उन पर तरह-तरह के इल्ज़ाम लगाए और धन का प्रलोभन देकर कुछ युवतियों को भी उनके पास भेजा ताकि उनका चरित्र भ्रष्ट हो जाए लेकिन इसमें वे कामयाब नहीं हो पाए। इस संदर्भ में विवेकानन्द ने स्वयं कहा है, "निस्सन्देह कट्टर पादरी मेरे विरुद्ध हैं और मुझसे लड़ना कठिन होगा जानकर हर प्रकार से वे मेरी निन्दा करते हैं और मुझे बदनाम करने एवं मेरा विरोध करने में भी नहीं हिचकिचाते। और इसमें मजूमदार उनकी सहायता कर रहे हैं। वह द्वेष के मारे पागल हो गया लगता है। उसने उन लोगों से कहा है कि मैं बहुत बड़ा धोखेबाज और धूर्त हूँ। और इस तरह कलकत्ते में कहता फिर रहा है कि मैं अमेरिका में अत्यन्त पापपूर्ण एवं लम्पट जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। प्रभु उसका कल्याण करें।" (वि.सा.2, पृ. 342) विवेकानन्द के चरित्र को कलंकित करने का अभियान दीर्घकाल तक चला, वैसे ही उसका प्रतिवाद भी दीर्घकाल तक चला। अंत में विजय विवेकानन्द के मित्रों की हुई। ईसाइयों के इस विद्वेषपूर्ण कार्य में प्रतापचंद मजूमदार ने ईर्ष्यावश और रमाबाई मण्डली ने, ईसाइयों की, विवेकानन्द के कारण, कम हो रही आमदनी के कारण, पूरा सहयोग दिया। इससे विवेकानन्द की छवि को कोई विशेष हानि नहीं पहुँची। हाँ ईसाइयों और रमाबाई मंडली को विदेशियों से चंदा लेने के कार्य में बाधा अवश्य पहुँची। यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक जान पड़ता है कि भारत में भी अनेक कट्टरपंथी लोगों ने स्वामीजी का विरोध किया था। इन विरोध करने वालों में कुछ लोग वह भी थे जो अध्यात्म को छोड़कर, व्यक्तिगत मुक्ति की कामना को छोड़कर, समाज-सेवा और कर्मोद्यम को ग़लत समझते थे। भारत में भी स्वामी विवेकानन्द के विरोधियों के बावजूद सामान्य जन में उनकी प्रसिद्धि और बढ़ती चली गई। यदि इस विरोध में थोड़ी-सी भी शक्ति होती तो विवेकानन्द न तो चार वर्ष तक विदेश में टिके रहते और न ही सारा भारत उनके व्याख्यान सुनने के लिए इतना व्याकुल होता। इस संदर्भ में स्वयं विवेकानन्द का कथन द्रष्टव्य है, "मनुष्य चाहे कैसा ही शुद्ध आचरण क्यों न करे, कुछ लोग ऐसे अवश्य रहेंगे, जो उसके

बारे में कोई महा झूठ खोज निकालेंगे।" (वि. सा.3, पृ. 386)

वापसी

स्वदेश लौटते हुए विवेकानन्द से जब उनके एक अंग्रेज़ मित्र ने पूछा, "विलासमय, ऐश्वर्यशाली तथा शक्तिमान पाश्चात्य देशों में चार वर्षों का अनुभव लेने के बाद अब आपको अपनी मातृभूमि कैसी लगेगी?" इस पर उनका उत्तर बड़ा ही मार्मिक था, "स्वदेश छोड़कर आने के पूर्व मैं भारत से केवल प्रेम ही करता था, परन्तु अब तो भारत की धूलिकण तक मेरे लिए पवित्र है, वहाँ की वायु तक मेरे लिए पावन है; अब तो भारत मेरे लिए पुण्यभूमि है–तीर्थस्थान है।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, दूसरा खण्ड, पृ. 272)

स्वामी विवेकानन्द का भारत लौटने पर भव्य स्वागत हुआ। चार वर्षों का अविराम भ्रमण समाप्त हुआ और स्वामीजी 15 जनवरी को भारत लौट आए। विवेकानन्द अपने भीतर जो आग लेकर गए थे, पाश्चात्य विज्ञान के सम्पर्क में आकर वह प्रचंड से प्रचंडतर हो उठी, उसने श्वेत शिखा का रूप धारण कर लिया। (हंसराज रहबर : योद्धा संन्यासी विवेकानन्द, पृ. 151) कोलम्बो से स्वामीजी रामनद गए और वहाँ से परमकुड़ी, मानमदुरा, मुदरा, त्रिचनापल्ली व तंजौर आदि नगरों में अनेक प्रकार से अभिनन्दित होकर कुम्भकोणम् पहुँचे। तीन दिन वहाँ विश्राम करके वे मद्रास गए जहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ और उन्होंने कई भाषण दिए। कोलम्बो से मद्रास तक उनका प्रत्येक भाषण उद्‌बोधन मंत्र था। मद्रास से वे कलकता पहुँचे। अपनी जन्म-भूमि में लौटकर स्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। यहाँ के संन्यासियों ने अपने प्रिय नेता को सम्मानपूर्वक ग्रहण किया, परंतु उनके प्रचारित संन्यास व कर्मयोग के नवरूपांतरित आदर्श को ग्रहण करने में उन्हें समय लगा। यहाँ स्वामीजी ने 'रामकृष्ण मिशन' की नींव डाली। अपनी अनथक मेहनत के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। चिकित्सकों के परामर्श पर, इच्छा न रहते हुए भी, वायु परिवर्तन के लिए स्वामीजी ने अलमोड़ा जाना स्वीकार किया। ढाई मास का समय वहाँ व्यतीत करके वे पंजाब व काश्मीर के विभिन्न स्थानों से आए निमंत्रणों को स्वीकार करके वहाँ से चल दिए। बरेली, अम्बाला, अमृतसरं, रावलपिंडी तथा फिर श्रीनगर

की यात्रा उन्होंने की। काश्मीर की अतुलनीय प्राकृतिक सुन्दरता ने स्वामीजी को प्रभावित किया।

पंजाब में और विशेष रूप से लाहौर में आकर स्वामीजी उत्तर भारत के आचार्य दयानंद सरस्वती द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में आए। आर्यसमाज की कुछ बातों से असहमत होते हुए भी स्वामीजी का और आर्यसमाज का एक-दूसरे के साथ सहज संबंध बना रहा। शारीरिक अस्वस्थता के कारण स्वामीजी को देहरादून में विश्राम करना पड़ा। वहाँ से सहारनपुर होकर वे दिल्ली पहुँचे और दिल्ली से अलवर होते हुए वे जयपुर पहुँचे जहाँ से वे खेतड़ी गए। वहाँ कुछ दिन विश्राम करके अपनी अस्वस्थता के बावजूद वे किसी तरह किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर व इंदौर होकर खंडवा पहुँचे। अपनी अस्वस्थता के कारण अनेक आमंत्रणों को अस्वीकार करते हुए 1898 के जनवरी मास के मध्य में वे अपने उत्तर भारत के भ्रमण को समाप्त कर वापिस कलकत्ता लौट आए।

1898 ई. के जनवरी से अक्तूबर तक स्वामीजी ने रामकृष्ण मठ की स्थापना व संघ की संगठन संबंधी कार्यप्रणाली को व्यवस्थित करने में तथा शिष्य व शिष्याओं के शिक्षादान कार्य में ही प्रधानतः अपना समय लगाया। स्वामीजी ने रामकृष्ण देव के जन्मदिवस के अवसर पर अपने अब्राह्मण शिष्यों को यज्ञोपवीत प्रदान करके कट्टरपंथी हिन्दू समाज को जो आघात पहुँचाया उसकी कल्पना सहज रूप में ही की जा सकती है।

स्वामीजी की शारीरिक अस्वस्थता अब बार-बार उनके कार्य में विघ्न बनकर खड़ी होने लगी। वायु परिवर्तन के लिए उन्हें दार्जिलिंग जाना पड़ा। लेकिन कलकत्ता में प्लेग रोग की बात सुनकर वे कलकत्ता लौट आए और वे स्वयं तथा शिष्यों के साथ सेवा में लग गए। "नागरिकों को साहस दिलाने के लिए स्वामीजी के आदेश पर एक घोषणा-पत्र के वितरण की व्यवस्था हुई। स्वामीजी के कहने पर निवेदिता ने दो दिनों के भीतर उस घोषणा-पत्र की पाण्डुलिपि बनाई और तदुपरान्त उसे हिन्दी तथा बंगला में भाषान्तरित किया गया। उसका सारांश यह था कि रामकृष्ण मिशन जनगण के साथ खड़ा होकर उनकी सेवा में खुले दिल से अपने धन तथा सामर्थ्य का उपयोग करेगा। घोषणा-पत्र के प्रचार के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार सेवा केन्द्रों की स्थापना का भी स्वामीजी ने संकल्प किया था। इसका आयोजन देखकर

एक गुरुभ्राता ने उनसे प्रश्न किया, "इसके लिए रुपये कहाँ से आएँगे?" स्वामीजी ने भृकुटि चढ़ाकर उत्तर दिया, "क्यों? आवश्यकता हुई तो मठ की नयी ज़मीन को बेच डालूँगा। हम लोग तो ठहरे फकीर; मुष्टिभिक्षा लेकर पेड़ों के नीचे सोएँगे। यदि जमीन बेचकर हजार-हजार लोगों के प्राण बचाए जा सकें, तो कैसी जगह और कैसी ज़मीन।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, तृतीय खण्ड, पृ. 88)

प्लेग का प्रकोप घट जाने पर वे नैनीताल से होते हुए अलमोड़ा पहुँचे। अलमोड़ा में उन्हें निर्जनता बड़ी प्रिय हो गई थी। एक सप्ताह तक वे अरण्य में रहे। वहाँ से वे कुछ दिनों के बाद पुनः काश्मीर भ्रमण के लिए निकले। रावलपिण्डी से वे मरी पहुँचे और वहाँ पर तीन दिन विश्राम कर श्रीनगर। इस्लामाबाद से लौटने के बाद वे अमरनाथ की यात्रा के लिए निकल पड़े। वहाँ से वे पहलगाँव होकर श्रीनगर लौट आए और फिर वहाँ से लाहौर आ गए तथा फिर बेलुड़ लौट आए। मठ में लगातार शास्त्रचर्चा तथा दर्शनार्थी भक्तों क़ो उपदेश आदि देने के कारण स्वामीजी को घोर मानसिक परिश्रम करना पड़ता था, उससे उनका शरीर दिन पर दिन अत्यधिक अस्वस्थ होने लगा। वे पुनः पश्चिमी देशों की यात्रा की इच्छा ज़ाहिर कर चुके थे। अंततः डॉक्टरों के इजाज़त देने पर उन्हें पुनः विदेश यात्रा करने का अवसर मिला।

पुनः विदेश यात्रा

पश्चिम की दूसरी यात्रा पर जाने का उद्देश्य जहाँ चल रहे कार्य की प्रगति देखना था, वहाँ उसमें कुछ और स्फूर्ति लाना भी था। अपने साथ निवेदिता, तुरीयानंद को ले जाते हुए उन्होंने कहा था, "पिछली बार उन्होंने एक योद्धा को देखा था इस बार मैं उन्हें एक ब्राह्मण दिखाना चाहता हूँ।" 28 जून को प्रातःकाल जहाज कोलम्बो से एडन की ओर रवाना हुआ। 31 जुलाई को वे लन्दन पहुँचे। वे लन्दन से कुछ दूरी पर स्थित विम्बलडन नामक स्थान पर निवास करने लगे। 16 अगस्त को उन्होंने न्यूयॉर्क की यात्रा प्रारम्भ की। अपने शिष्य व शिष्याओं के आग्रहपूर्ण निमंत्रण पर वे न्यूयॉर्क के आस-पास बोस्टन, डिट्राइट, ब्रुकलिन आदि कई स्थानों पर गए। वहाँ से शिकागो में कुछ दिन रहकर कैलिफोर्निया आ पहुँचे। लगभग सात मास तक वे इस प्रांत में रहे। इसके बाद फरवरी माह में ओकलैंड पहुँचे।

इसके बाद वे न्यूयॉर्क लौट आए। कुछ दिन विश्राम करके वे पेरिस पहुँचे। तीन माह पेरिस में बिताकर वे अपने साथियों के साथ विएना गए। वहाँ से यूनान, केरो आदि नगरों के ऐश्वर्य, सौन्दर्य, विलास आदि को देखकर विवेकानंद का मन विरक्त हो उठा। मिस्र में पहुँचने के बाद उनका मन भारत लौटने के लिए व्याकुल हो उठा और जब उन्हें मायावती मठ के संस्थापक श्री सेविअर के परलोक सिधारने की सूचना मिली तो उन्होंने भारत लौटने का मन बना लिया।

महाप्रयाण

बम्बई की बंदरगाह पर उतरकर वे कलकत्ते की ओर चले। इस बार अभिनन्दन, भाषण, लोक शिक्षा, प्रचार कार्य इत्यादि की ओर उनकी तनिक भी रुचि नहीं थी और इसलिए अत्यन्त गुप्त रूप से गाड़ी पर चढ़े। 1900 ई. के 9 दिसम्बर की रात को स्वामीजी अप्रत्याशित रूप से बेलुड़ मठ में उपस्थित हुए। उनके शिष्य उन्हें अपने बीच पाकर प्रसन्न हो उठे। बेलुड़ मठ से वे मायावती गए। वहाँ जाकर वे व्यस्त हो गए। प्रतिदिन उन्हें अनेक पत्रों का उत्तर देना पड़ता था और शास्त्रचर्चा तो चलती रहती थी। वहीं से उन्होंने लाहौर सम्मेलन के सभापति के रूप में न्यायमूर्ति श्री रानाडे के भाषण का निर्भीक प्रतिवाद तथा समालोचना की।

1901 ई. की 24 जनवरी को स्वामीजी बेलुड़ मठ लौट आए और 18 मार्च को कुछ संन्यासी शिष्यों के साथ ढाका की यात्रा की। वहाँ भी उनका स्वास्थ्य ठीक न रहा। उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखकर सभी ने उनसे शिलांग जाने का अनुरोध किया। आसाम से होते हुए वे शिलांग पहुँचे। वहाँ भी उनके स्वास्थ्य में ज़्यादा सुधार न हुआ। कुछ दिनों के बाद वे वापिस बेलुड़ लौट आए। बहुमूत्रता के रोग से वे पहले से ही कष्ट पा रहे थे। अब इसमें कुछ और बढ़ोत्तरी हो गई थी। स्वामीजी शय्या पर पड़ गए। स्वस्थ होने पर वे 1902 ई. के जनवरी मास में बुद्धगया गए। स्वामीजी के परिव्राजक जीवन का यह अंतिम भ्रमण था। वहाँ से फिर उसी पवित्र बोधिद्रुम के नीचे पद्मासन में ध्यानमग्न हुए। श्री रामकृष्ण के जन्मोत्सव के निकट वे काशी से बेलुड़ मठ लौट आए। मठ में आकर रोग इतना बढ़ गया कि वह शय्या ग्रहण करने के लिए बाध्य हो गए। लगातार औषधि सेवन तथा

नियम-कानून के नियंत्रण में रहते हुए स्वामीजी विरक्त हो गए। जून मास के प्रथम भाग से ही स्वामीजी मठ तथा रामकृष्ण मिशन संबंधी बातों में सम्पूर्ण उदासीनता प्रकट करने लगे। देह-त्याग के एक सप्ताह पहले उन्होंने पंचांग मँगवाकर अपने पास रखा। उस समय उनके मुख का भाव देखकर ऐसा लगता था मानो वे किसी विशेष कार्य के लिए कोई दिन चुनना चाहते हैं, परन्तु किसी निर्णय पर पहुँच नहीं पा रहे। देह-त्याग से तीन दिन पूर्व स्वामीजी ने मरु के विस्तृत मैदान में घूमते हुए एक स्थान की ओर इशारा करके कहा, "मेरा देहान्त होने पर उस स्थान पर मेरा अंतिम संस्कार करना।" अब वहाँ उनका समाधि मन्दिर बना हुआ है।

रोमाँ रोलाँ ने उनके महाप्रयाण का वर्णन कुछ यूँ किया है, "पुण्य-तिथि शुक्रवार 4 जुलाई, 1902 को वह इतने प्रफुल्ल और प्रसन्न दिख रहे थे जितने वर्षों से नहीं दिखे थे। ब्राह्म मुहूर्त में वह उठे। पूजा-घर जाकर सब-कुछ खुला रखने के अपने अभ्यास के प्रतिकूल उन्होंने खिड़कियाँ भेड़ दीं और दरवाजे बंद कर लिए। वहाँ एकान्त में सवेरे आठ से ग्यारह बजे तक ध्यान किया और काली की एक ललित स्तुति गायी। पर जब बाहर आँगन में आये तो बिलकुल बदल ही गए। उन्होंने रुचिपूर्वक शिष्यों के मध्य बैठकर भोजन किया फिर तत्काल छात्रों को संस्कृत पढ़ाने लगे। बड़े उत्साह और स्नेह से तीन घण्टे पढ़ाते रहे। फिर प्रेमानन्द के साथ बेलुड़ मार्ग पर प्रायः दो मील पैदल चले; अपनी वैदिक कॉलिज की योजना बतायी और वैदिक अध्ययन के विषय में बात करते रहे : "उससे अन्धविश्वास नष्ट हो जायेगा", उन्होंने कहा।

सन्ध्या आई—अपने संन्यासी बन्धुओं से उनका अन्तिम स्नेहमय वार्तालाप हुआ। उन्होंने राष्ट्रों के अभ्युदय और पतन का प्रसंग उठाया।

"भारत परमात्मा की खोज में लगा रहता है तो वह कभी मिट नहीं सकता। किन्तु वह यदि राजनीति और समाज संघर्ष में पड़ता है तो वह नष्ट हो जाएगा।"

"सात बजे मठ में आरती के लिए घण्टी बजी। वह अपने कमरे में चले गए और गंगा की ओर देखने लगे। फिर उन्होंने उस छात्र को जो उनके साथ था, बाहर भेज दिया; कहा कि मेरे ध्यान में विघ्न नहीं होना चाहिए। पैंतालीस मिनट बाद उन्होंने उसे बुलाया। सब खिड़कियाँ खुलवा

दीं। भूमि पर चुपचाप बाईं करवट लेट रहे और ऐसे ही निश्चल लेटे रहे। वह ध्यान-मग्न प्रतीत होते थे। घण्टे पहर बाद उन्होंने करवट ली, गहरा निःश्वास छोड़ा। कुछ एक क्षण तक मौन छाया रहा—पुतलियाँ पलकों के मध्य में स्थिर हो गयीं—एक और गहरा निःश्वास छोड़ा और फिर चिर मौन छा गया।''

''प्रातःकाल देखने में आया कि उनके दोनों नेत्रों में जवा पुष्प के समान लालिमा आ गयी है और नासिकाद्वार तथा मुख पर रक्त के चिह्न हैं। बाद में सुविज्ञ डॉक्टर विपिनचन्द्र घोष महाशय आए। उन्होंने सब-कुछ देख-सुन तथा जाँच कर अपना मत दिया कि रक्ताघात (apoplexy) रोग के कारण देहान्त हुआ है; महेन्द्र बाबू बता गए थे कि हृदय-गति रुक जाना ही महाप्रयाण का कारण है। इसके बाद और भी डॉक्टरों ने आकर अपने-अपने मत व्यक्त किए। किसी-किसी ने कहा कि सिर की नस फट जाने से ऐसा हुआ। परन्तु साधु एवं भक्तगण ने समझ लिया कि ध्यान करते-करते स्वामीजी की प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर अनन्त में विलीन हो गयी है। श्री रामकृष्ण जो कहा करते थे वही हुआ है—स्वामीजी ने योग के द्वारा समाधिमार्ग से देहत्याग किया है।'' अन्तिम दिन उनकी आयु उन्तालीस वर्ष, पाँच माह और चौबीस दिन थी। उन्होंने भविष्यवाणी की थी, ''मैं चालीसवाँ पार नहीं करूँगा''—यह वाणी अक्षरशः प्रतिफलित हुई। (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, तृतीय खण्ड, पृ. 383)

''मुझे हर्ष है कि मैंने जन्म लिया, हर्ष है कि मैंने कष्ट उठाया, हर्ष है कि मैंने बड़ी-बड़ी भूलें कीं, और हर्ष है कि निर्वाण रूप शान्ति-सागर में विलीन होने जा रहा हूँ। खुद के लिए मैं किसी को बन्धन में छोड़कर नहीं जा रहा हूँ, न मैं कोई बन्धन ले जा रहा हूँ। चाहे इस शरीर की मृत्यु से मुझे मुक्ति मिले, या शरीर के रहते हुए मुक्त हो जाऊँ, वह पहला मनुष्य चला गया, सदा के लिए चला गया और कभी वापस नहीं आयेगा।

शिक्षादाता, गुरुनेता, आचार्य विवेकानन्द चला गया—है केवल वही बालक, प्रभु का चिरशिष्य, चिरपदाश्रित दास।'' (वि. सा. 8, पृ. 332-333)

इस प्रकार एक ऐसे व्यक्तित्व का अवसान हो गया जो आजीवन कर्मशील रहा और सबको कर्मशील होने के लिए प्रेरित करता रहा। आध्यात्मिक जगत में वह अकेला ऐसा व्यक्ति दिखाई पड़ता है जो जन-

सेवा के माध्यम से भगवद् उपासना की बात करता है, जो कर्मोद्यम के साथ वैराग्य और समाज को जोड़कर वेदान्त की नयी व्याख्या करता है। वह अकेला ऐसा क्रांतिकारी आध्यात्मिक पुरुष है जो भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को दूर तक प्रभावित करता है। विवेकानन्द की ओजस्वी वाणी आज भी भारत के युवाओं को बहुत कुछ प्रदान कर सकती है। विवेकानन्द एक ऐसा प्रेरणा पुरुष है जिसका व्यक्तित्व और कार्य आज भी नरेन्द्र कोहली जैसे सशक्त उपन्यासकारों को 'तोड़ो कारा तोड़ो' जैसा महाकाव्यात्मक उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित करता है। मगर सवाल अब भी वही है कि आखिर यह अग्नि कब तक यूँ ही बिखरी रहेगी—इसे कौन धारण करेगा! स्वयं विवेकानन्द कह गये हैं, "तुम लोग सोचते हो, मेरे बाद शायद और कोई विवेकानन्द नहीं होगा। आवश्यकता होने पर विवेकानन्द का अभाव नहीं रहेगा। कहाँ से कोटि-कोटि विवेकानन्द आकर उपस्थित हो जाएँगे, यह कौन जानता है?" (वि. सा. 8, पृ. 255)

द्वितीय अध्याय

विवेकानन्द और उनका शिक्षा-दर्शन

स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा संबंधी विचारों को जानने से पूर्व कुछ बातों पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि स्वामी विवेकानन्द कोई शिक्षाशास्त्री नहीं थे। मूलतः वे एक चिन्तक हैं और उनके चिन्तन का मूलाधार धर्म है। इसी को केन्द्र में रखकर उन्होंने अपने सभी विचारों को प्रकट किया है। दूसरी बात यह कि वे उस युग में हुए जब अंग्रेज़ भारत पर अपना आधिपत्य जमा चुके थे, पाश्चात्य संस्कृति, जीवन-शैली, विचारधारा उनके साहित्य के माध्यम से भारत जैसे 'पुराणपंथी' देश में नयी चेतना जाग्रत करने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति को प्रभावित कर रही थी। विवेकानन्द को इनकी भाषा को सीखने, पढ़ने और तदनन्तर इसकी सहायता से विदेश-भ्रमण के अवसर पर इन्हें निकट से देखकर इनकी वास्तविक सच्चाई को जानने का अवसर मिला। तीसरी बात यह कि विवेकानन्द के समस्त चिन्तन में भारतीयता जहाँ मूलाधार में स्थित है, वहाँ पश्चिमी सभ्यता के प्रभावस्वरूप कूपमंडूकता या पूर्वाग्रही मतान्धता नहीं है। अपनी पैनी दृष्टि से शिक्षा के वर्तमान स्वरूप को जानकर उन्होंने जो कहा वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

मैकाले ने भारत में जिस शिक्षा नीति की घोषणा की थी उसकी सच्चाई मैकाले ही के शब्दों में यह है, "हमें इस समय एक ऐसा वर्ग पैदा करने में पूरी शक्ति लगानी चाहिए जो हमारे उन लाखों लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिये का काम कर सके—ऐसे लोगों का एक वर्ग, जिनका रक्त और रंग भारतीय हो, किन्तु जो अंग्रेज़ हों।" (के. दामोदरन :

भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 357) मैकाले की इस शिक्षा नीति के दुष्परिणाम हम सबके सामने हैं—आज अंग्रेज़ी का वर्चस्व, विदेश जाने का आकर्षण, भारतीय संस्कृति को 'पुराणपंथी' विचारधारा कहकर उपेक्षा करने की प्रवृत्ति आम है। इस शिक्षा प्रणाली के बारे में अब ज़रा विवेकानन्द के विचार सुनिए। उनका कहना है, "विदेशी विजयी वहाँ हमारी भलाई करने के लिए नहीं हैं, वह तो अपना रुपया चाहता है। मैंने बड़ी मेहनत से बारह वर्ष अध्ययन किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. ए. पास किया; फिर भी मैं अपने देश में मुश्किल से मासिक पाँच डॉलर पैदा कर सकता हूँ। शायद आपको इसमें विश्वास न हो; पर यह सच है। विदेशियों की ये शिक्षा संस्थाएँ तो थोड़े मूल्य पर उपयोगी गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं; अर्थात् इन कारखानों से मुंशी, डाक बाबू, तार बाबू आदि पैदा होते हैं। बस, केवल यहीं तक—इससे अधिक नहीं।" (वि.सा. भाग 1, पृ. 321) एक साक्षात्कार में भी उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा के विषय में कहा, "इसमें दोष ही दोष भरे हैं। यह 'बाबू' पैदा करने की मशीन के सिवाय कुछ नहीं है। अगर इतना ही होता, तब भी ठीक था, पर नहीं—इस शिक्षा से लोग किस प्रकार श्रद्धा और विश्वास रहित होते जा रहे हैं। वे कहते हैं कि गीता तो एक प्रक्षिप्त अंश है और वेद देहाती गीत मात्र हैं। वे भारत के बाहर के देशों तथा विषयों के सम्बन्ध में तो हर बात जानना चाहते हैं, पर यदि उनसे कोई अपने पूर्वजों के नाम पूछे तो चौदह पीढ़ी तो दूर रहीं, सात पीढ़ी तक भी नहीं बता सकते।" (वि. सा. भाग 8, पृ 227) मैकाले की शिक्षा नीति को विवेकानन्द ने कितनी शीघ्रता से पहचान लिया था यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है।

इस शिक्षा प्रणाली के जो दुष्परिणाम हैं वे सब आज हमारे सामने हैं। विवेकानन्द ने अपनी अन्तर्दृष्टि से इन दुष्परिणामों का स्पष्ट उद्घाटन किया था। इस शिक्षा प्रणाली पर उन्होंने खुलकर अपने विचारों को प्रकट किया है। उनकी दृष्टि में, "दूसरों की कुछ बातों को दूसरी भाषा में रटकर, मस्तिष्क में भरकर, परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सोच रहे हो—हम शिक्षित हो गए! धिक्-धिक्, इसका नाम कहीं शिक्षा है? तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? या तो क्लर्क बनना या दुष्ट वकील बनना, और बहुत हुआ तो क्लर्की का ही दूसरा रूप डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी—यही ना? इससे तुम्हें या

देश को क्या लाभ हुआ?" (वि. सा. 6, पृ. 155) वास्तव में विवेकानन्द उस शिक्षा पद्धति का निर्मूलन करना चाहते थे जो मार-मारकर गधों को घोड़ा बनाना चाहती है। उनका मानना था, "हमारे शिक्षाशास्त्री हमारे बच्चों को केवल तोता बना रहे हैं और रटा-रटाकर उनके मस्तिष्क में कई विषय ठूँसते जा रहे हैं।...और आखिर में वे सीखते क्या हैं—बस यही कि हमारा धर्म, आचार-विचार और रीति-रिवाज सब खराब हैं, और पाश्चात्यों की सब बातें अच्छी हैं! इस तरह हम महानाश को निमंत्रित कर रहे हैं।" (वि. सा. 8, पृ. 229) इक्कीसवीं सदी के इस दौर में विवेकानन्द का ये कथन पूर्णतः सत्य हो चुका है। आज भारतीय युवक पश्चिम की चकाचौंध में इतनी बुरी तरह से सम्मोहित है कि उसे भारतीय संस्कृति एक दकियानूसी चीज़ दिखाई पड़ती है। विवेकानन्द को इसी बात का अंदेशा था इसीलिए उन्होंने ऐसी शिक्षा प्रणाली का विरोध किया था। उनका कहना था, "जो शिक्षा प्रणाली मन और मस्तिष्क को दुर्बल कर दे और मनुष्य को कुसंस्कार से भर दे, जिससे वह अंधकार में टटोलता रहे, खयाली पुलाव पकाता रहे और सब प्रकार की अजीबो-गरीब और अंधविश्वासपूर्ण बातों की तह छानता रहे, उस मत या प्रणाली को मैं पसन्द नहीं करता, क्योंकि मनुष्य पर उसका परिणाम बड़ा भयानक होता है।" (वि. सा. 2, पृ. 189) वास्तव में विवेकानन्द वर्तमान शिक्षा प्रणाली के बहिरंग स्वरूप पर दृष्टि डालकर इसके मुख्य दोष की ओर संकेत करते हैं। उनका कहना था वर्तमान शिक्षा से युवकों का केवल बाहरी परिवर्तन होता जा रहा है। उनके शब्दों में वर्तमान शिक्षा प्रणाली "केवल बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का प्रयत्न कर रही है।" (वि. सा. 4, पृ. 172)

विश्वविद्यालीय शिक्षा पर सवाल उठाते हुए विवेकानन्द ने कहा, "अपने विश्वविद्यालयों को लीजिए। अपने पचास वर्ष के अस्तित्व में उन्होंने क्या किया है? उन्होंने एक भी मौलिक व्यक्ति पैदा नहीं किया। वे केवल परीक्षा लेने की संस्थाएँ हैं।" (वि. सा. 4, पृ. 262) विवेकानन्द के इस प्रश्न पर आज ध्यान देने की आवश्यकता है। उनका सारा ज़ोर इस बात पर है कि "तथ्य समूह से मन को भर देना ही शिक्षा नहीं है।" (वि. सा. 4, पृ. 157) विवेकानन्द इस शिक्षा प्रणाली को निषेधात्मक मानते हैं। "यह शिक्षा केवल तथा पूर्णतः निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर

आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक है। कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और जो सबसे पहली बात उसे सिखाई जाती है वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है वह यह कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात है कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे पाखंडी हैं। और चौथी बात है कि तुम्हारे जितने पवित्र धर्मग्रंथ हैं, उनमें झूठी और कपोलकल्पित बातें भरी हुई हैं। इस प्रकार की निषेधात्मक बातें सीखते-सीखते जब बालक 16 वर्ष की अवस्था को पहुँचता है तब वह निषेधों की खान बन जाता है—उसमें न जान रहती है, न रीढ़। अतः इसका जैसा परिणाम होना चाहिए था वैसा ही हुआ है।'' (वि. सा. 5, पृ. 194-195)

सवाल हो सकता है कि यदि विवेकानन्द इस शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध हैं तो उनकी दृष्टि में शिक्षा क्या है और वे इस शिक्षा से क्या प्राप्त करने पर बल देते हैं? इस सन्दर्भ में पहली बात जिसे मूलाधार के रूप में स्वीकार कर लेना आवश्यक है, वह है विवेकानन्द का 'धर्म को शिक्षा का अन्तरतम अंग' स्वीकार करना (वि. सा. 4, पृ. 268) यानी धर्म उनके सभी विचारों की धुरी है। अब यह धर्म क्या है? विवेकानन्द ने धर्म और शिक्षा दोनों की परिभाषा इस प्रकार दी है, ''धर्म का अर्थ है, उस ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है। शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।'' (वि. सा. 2, पृ. 238) इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, ''हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास—केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं, अथवा व्यक्तियों को ठीक तरह से और दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं।'' (वि. सा. 4, पृ. 268)

अतः विवेकानन्द की दृष्टि में शिक्षा से तात्पर्य ''आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है जो भावात्मक हो तथा जिसमें स्वाभिमान और श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिसमें चरित्र निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो, और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें।'' (वि. सा. 8, पृ. 277) दूसरे शब्दों में विवेकानन्द ने इसे यूँ कहा है, ''कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही क्या तुम्हारी दृष्टि में वे शिक्षित हो गये! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन संग्राम

में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्रबल, पर-हित भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही शिक्षा है।" (वि. सा. 6, पृ. 106) अतः उनका मानना है, "शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत-सी बातें इस तरह ठूँस दी जाएँ कि अन्तर्द्वन्द्व होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन-भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।" (वि. सा. 5, पृ. 195)

वास्तव में विवेकानन्द की आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टि शिक्षा को धर्माधारित और समाजाधारित करने पर बल देती है। विवेकानन्द का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष ही यह है कि धर्म और अध्यात्म पर बल देते हुए भी वे कहीं भी समाज से कटते या असम्पृक्त होते दिखाई नहीं पड़ते। शिक्षा के क्षेत्र में वे नैतिक और बौद्धिक शिक्षा के पक्ष में हैं। उनका कहना है, "शिक्षा प्रदान करना हमारा पहला कार्य होना चाहिए—नैतिक तथा बौद्धिक, दोनों ही प्रकार की।" (वि. सा. 6, पृ. 350)

उल्लेखनीय है कि वर्तमान शिक्षा के विरुद्ध होते हुए भी वे विज्ञान के विरोधी नहीं। इस संदर्भ में वे ईसाई मिशनरियों के बारे में कहते हैं कि अमेरिकनों को उन्हें धार्मिक शिक्षा देने के लिए मिशनरियों को भेजने के बजाय यह अधिक उचित होगा कि वे ऐसे लोगों को भेजें, जो उन्हें औद्योगिक शिक्षा प्रदान कर सकें। (वि. सा. 10, पृ. 228) विवेकानन्द औद्योगिक शिक्षा के साथ-साथ "सरल भाषा में विज्ञान, दर्शन, भूगोल और इतिहास की मूल बातों को सर्वसाधारण" में फैलाने के पक्ष में थे। (वि. सा. 6, पृ. 14) विवेकानन्द का मत था कि "उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी के लिए दफ्तरों की खाक छानने के बजाय लोग थोड़ी-सी यांत्रिक शिक्षा प्राप्त करें जिससे काम-धंधे से लगकर अपना पेट तो पाल सकेंगे।" (वि. सा. 8, पृ. 230) विवेकानन्द का सबसे अधिक बल इसी बात पर था और आज के परिप्रेक्ष्य में भी भारतीय युवाओं के सामने यही लक्ष्य सर्वोपरि है। विवेकानन्द ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा था, "हमें उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए यांत्रिक शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, जिससे देश के

युवक नौकरी ढूँढने के बजाय अपनी जीविका के लिए समुचित धनोपार्जन भी कर सकें, और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सकें।'' (वि. सा. 8, पृ. 231)

विज्ञान के समर्थक होते हुए भी विवेकानन्द इसके प्रति सचेत भी करते हैं। उनका कहना है, ''जिस तरह धर्म के सम्बन्ध में अन्धविश्वास है, उसी तरह वैज्ञानिक विषयों में भी है। धार्मिक कार्य को अपना वैशिष्ट्य मानने वाले पुरोहितों के सदृश भौतिक विज्ञान के भी पुरोहित होते हैं, जो वैज्ञानिक कहलाते हैं। ज्योंही डार्विन या हक्सले जैसे वैज्ञानिक का नाम लिया जाता है, त्योंही हम आँख बन्द कर उनका अनुसरण करने लगते हैं। यह तो आजकल का एक फैशन हो गया है।...सच्चा विज्ञान हमें सावधान रहना सिखलाता है। जिस तरह पुरोहितों से हमें सावधान रहना चाहिए, उसी तरह वैज्ञानिकों से भी। पहले अविश्वास से आरम्भ करो। छान-बीन करो, परीक्षा करो और प्रत्येक वस्तु का प्रमाण माँगने के बाद उसे स्वीकार करो। आजकल के विज्ञान के बहुत-से प्रचलित सिद्धान्त, जिनमें हम विश्वास करते हैं, सिद्ध नहीं हुए हैं। गणित जैसे शास्त्र में भी बहुत-से सिद्धान्त ऐसे हैं, जो केवल कामचलाऊ परिकल्पना के सदृश ही हैं। जब ज्ञान की वृद्धि होगी, तो ये फेंक दिये जायेंगे।'' (वि. सा. 3, पृ. 115) विवेकानन्द विवेक को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। वास्तव में विवेकानन्द का शिक्षा-दर्शन धर्म को मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करके लोकोपयोगी बनाने के पक्ष में था। धर्म को, नैतिकता को प्राथमिकता देते हुए भी वे निर्धन भारत की वर्तमान स्थिति से आँखें नहीं मूँद पाये। चारित्रिक, मानसिक विकास के अभाव में जो शिक्षा हमें आज प्राप्त है वह भ्रष्टाचार का मूल स्रोत है। निजी स्वार्थ, सत्ता या उपाधि प्राप्ति के लिए एक अन्धी दौड़ सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। विवेकानन्द इसके कटु विरोधी थे—तभी तो वे वर्तमान शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध थे। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा थी, ''हमें लोकोपयोगी शिक्षा देनी होगी।'' (वि. सा. 4, पृ. 252) उनकी दृष्टि में ''शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुए बिना उन्नति कैसे होगी? स्मरण रहे कि सर्वसाधारण में और स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुए बिना उन्नति का कोई उपाय नहीं है।'' (वि. सा. 6, पृ. 37) विवेकानन्द शिक्षा के इस प्रसार के लिए अपने ब्रह्मचारी संन्यासियों को तैयार करके देश के कोने-कोने में भेजने के इच्छुक थे।

विवेकानन्द का शिक्षा-दर्शन समाजोन्मुखी है। वे अपने देश के निम्न

वर्ग की ओर देखे बिना किसी प्रकार के विकास की बात करना उचित नहीं समझते थे। उन्हें पता था कि ग़रीब लोगों के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए धन नहीं है। इसलिए वे इन्हें निःशुल्क शिक्षा देने के पक्ष में थे। एक चेतनावान और दूरदर्शी चिन्तक होने के कारण उन्हें इस सच्चाई का भी पता था कि ये निर्धन वर्ग निःशुल्क शिक्षा भी ग्रहण नहीं करेगा। इस संदर्भ में उनके विचार द्रष्टव्य हैं, ''अगर यह भी मान लिया जाए कि प्रत्येक गाँव में हम लोग निःशुल्क पाठशाला खोलने में समर्थ हैं, तब भी ग़रीब लड़के पाठशालाओं में आने की अपेक्षा अपने जीविकोपार्जन हेतु हल चलाने जाएँगे। न तो हमारे पास धन है और न हम उनको शिक्षा के लिए बुला ही सकते हैं।'' (वि. सा. 2, पृ. 366) इस प्रकार वे जानते थे कि ग़रीबों को शिक्षा देने में मुख्य बाधा यही निर्धनता है। ''भारत में ग़रीबी ऐसी है कि ग़रीब लड़के पाठशाला में आने के बजाय खेतों में अपने माता-पिता को मदद देने या किसी दूसरे उपाय से रोटी कमाने जाएँगे।'' (वि. सा. 2, पृ. 370) इस यथार्थ के साक्षात्कार तक ही विवेकानन्द सीमित नहीं रहे, वे इसका व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, ''इसलिए अगर पहाड़ मुहम्मद के पास न आये, तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना पड़ेगा। अगर ग़रीब लड़का शिक्षा ग्रहण करने के लिए न आ सके, तो शिक्षा को ही उसके पास जाना पड़ेगा। हमारे देश में हज़ारों एकनिष्ठ और त्यागी साधु हैं, जो गाँव-गाँव धर्म की शिक्षा देते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ लोगों को सांसारिक विषयों के शिक्षकों के रूप में भी संगठित किया जा सके तो गाँव-गाँव, दरवाज़े-दरवाज़े पर जाकर वे केवल धर्मशिक्षा ही नहीं देंगे, बल्कि ऐहिक शिक्षा भी दिया करेंगे। कल्पना कीजिए कि इनमें से दो व्यक्ति शाम को साथ में एक मैजिक लैन्टर्न, एक ग्लोब और कुछ नक्शे आदि लेकर किसी गाँव में जाते हैं। वे अपढ़ लोगों को गणित, ज्योतिष और भूगोल की बहुत कुछ शिक्षा दे सकते हैं। वे ग़रीब पुस्तकों से जीवन-भर में जितनी जानकारी न पा सकेंगे, उससे सौगुनी अधिक वे उन्हें बातचीत के माध्यम से विभिन्न देशों के बारे में कहानियाँ सुनाकर दे सकते हैं।'' (वि. सा. 2, पृ. 370)

इस काम के लिए विवेकानन्द परमुखापेक्षी होने के स्थान पर अपने संन्यासियों का उपयोग करने की सोचते हैं। वे कहते हैं, ''कुछ ब्रह्मचारी

और ब्रह्मचारिणियाँ बनाने की मेरी इच्छा है। ब्रह्मचारी समय से संन्यास लेकर प्रांत-प्रांत में, गाँव-गाँव में जाएँगे और जनसमुदाय में शिक्षा का प्रसार करने का प्रबन्ध करेंगे और ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रसार करेंगी।'' (वि. सा. 6, पृ. 37) इस प्रसार कार्य के स्वरूप के बारे में भी विवेकानन्द पूर्णतः सचेत थे। उनका कहना था, ''यह सब काम अपने देश के ढंग पर होना चाहिए। पुरुषों के लिए जैसे शिक्षा केन्द्र बनाने होंगे, वैसे ही स्त्रियों के निमित्त भी स्थापित करने होंगे। शिक्षित और सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियाँ इन केन्द्रों में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सारे नियम आदि वर्तमान विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे तथा आदर्श चरित्र गठन करने के लिए उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी।'' (वि. सा. 6, पृ. 37)

शिक्षा के इस प्रसार कार्य में निम्न वर्ग को शिक्षित करने की बात के साथ-साथ वे उनकी वर्तमान मानसिक स्थिति के प्रति भी पूर्णतः सचेत थे। अतः उन्होंने इस वर्ग को ऊपर उठाने के लिए दुगुनी मेहनत की बात भी कही। उनके शब्दों में, ''चाण्डाल के लिए शिक्षा की जितनी आवश्यकता है, उतनी ब्राह्मण के लिए नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिए एक शिक्षक आवश्यक हो, तो चाण्डाल के लड़के के लिए दस शिक्षक चाहिएँ। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसके लिए अधिक सहायता करनी होगी। चिकने-चुपड़े पर तेल लगाना पागलों का काम है।'' (वि. सा. 4, पृ. 309-310)

शिक्षा के क्षेत्र में निम्न, पिछड़ी जातियों को ऊपर उठाने के साथ-साथ विवेकानन्द नारी शिक्षा के भी हिमायती थे। वे स्त्री को पूरा सम्मान देने की बात कहते हैं। उन्होंने कहा था कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है वहाँ की महिलाओं के साथ होने वाला व्यवहार। (वि. सा. 1, पृ. 324) वे ''स्त्री-पुरुषों में बाह्य भेद रहने पर भी स्वरूप में कोई भेद नहीं'' मानते। (वि. सा. 6, पृ. 185) वे मानते हैं कि ''उनकी समस्याएँ बहुत-सी हैं और गम्भीर हैं, पर उनमें एक भी ऐसी नहीं, जो जादू भरे शब्द शिक्षा से हल न की जा सकती हो।'' (वि.सा. 4, पृ. 268) वे स्त्रियों को विज्ञान एवं अन्य विषयों का ज्ञान देने के पक्ष में थे और चाहते थे कि ''चरित्रशीला एवं धर्मभावापन्ना प्रचारिकाओं द्वारा देश में यथार्थ स्त्री शिक्षा

का प्रसार'' हो। (वि. सा. 6, पृ. 184) इस प्रकार स्त्री शिक्षा को वे अनिवार्य मानते थे। पाश्चात्य देशों की यात्रा करके उन्होंने पाया था कि ''हमारी स्त्रियाँ इतनी विदुषी नहीं, परन्तु वे अधिक पवित्र हैं।'' (वि. सा. 10, पृ. 216) वे स्त्री को स्वतंत्र मानते हैं। ''नारी पर पुरुष क्यों शासन करे? तथैव, पुरुष पर नारी क्यों शासन करे? प्रत्येक स्वतंत्र है। यदि कोई बन्धन है, तो वह है प्रेम का।'' (वि. सा. 10, पृ. 19) स्त्री को शिक्षित करना इसलिए भी आवश्यक है, ''स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी तभी तो उनकी सन्तानों द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेंगी।'' (वि.सा. 6, पृ. 185) स्वामीजी संभवतः पहले ऐसे संन्यासी हैं जिन्होंने पहली बार विदेशी स्त्रियों को संन्यासी बनाया और उन्हें धर्म-प्रचार में लगाया। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

स्वामी विवेकानन्द की खुली दृष्टि का ही प्रमाण है कि वे मनोविज्ञान के अध्ययन पर भी बल देते थे। उनका कहना था, ''यह मनोविज्ञान है जो हमें चक्कर काटने वाले निरंकुश मन को संयमित करना, उसे इच्छा के नियन्त्रण में रखना और इस प्रकार उसके अत्याचारी आदेशों से अपने को मुक्त करना सिखाता है। अतएव मनोविज्ञान सब विज्ञानों का विज्ञान है और उसके बिना अन्य सब ज्ञान व्यर्थ है।'' (वि. सा. 4, पृ. 114) मनोविज्ञान को विज्ञानों का विज्ञान कहने का कारण बताते हुए वे कहते हैं, ''हम सब अपनी इन्द्रिय्रों के दास हैं, अपने चेतन तथा अवचेतन मन के दास हैं। कोई अपराधी इसलिए अपराधी नहीं है कि वह वैसा बनना चाहता है, वरन् इसलिए है कि उसका मन उसके बस में नहीं है और इस प्रकार वह अपने ही चेतन तथा अवचेतन मन का तथा अन्य प्रत्येक व्यक्ति के मन का दास है। उसे झख मारकर अपने चित्त की बलवती प्रवृत्ति का अनुसरण करना पड़ता है, उसे वह रोक नहीं सकता। अपनी अन्तरात्मा, अपनी अन्तःप्रेरणा, अपनी सत् प्रवृत्तियों के बाजवूद वह अग्रसर होता है और स्वयं अपने मन की प्रबल प्रवृत्ति के अनुसार चलने को विवश हो जाता है। वह बेचारा अपने को रोक नहीं सकता। हम इसे लगातार अपने जीवन में भी देखते हैं।'' वि.सा. 4, पृ. 112-113) विवेकानन्द मनोविज्ञान को इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे व्यावहारिक मनोविज्ञान का पहला काम यही सिखलाना मानते हैं कि हम अपने अचेतन मन पर नियन्त्रण किस तरह

कर सकते हैं। "हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। इसलिए कि हम जानते हैं, चेतन मन ही अचेतन का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने चेतन विचार और चेतन कार्य थे, वे ही घनीभूत होकर प्रसुप्त हो जाने पर हमारे अचेतन विचार बन जाते हैं। वे ही प्रसुप्त कारण एक दिन मन के ज्ञानयुक्त क्षेत्र पर आ उठते हैं और मानवता का नाश कर देते हैं। अतएव सच्चा मनोविज्ञान उनको अचेतन मन के अधीन लाने का प्रयत्न करेगा। ...अचेतन को अपने अधिकार में लाना हमारी साधना का पहला भाग है।" (वि. सा. 3, पृ. 121) यहाँ विवेकानन्द मनोविज्ञान के महत्त्व को अध्यात्म के क्षेत्र में भी स्वीकार करते दिखाई पड़ते हैं। वे चेतन से परे जाने की बात करके मनोविज्ञान से भी आगे जाते हैं।

शिक्षा के विकास के लिए वे युवाओं में शारीरिक शक्ति को भी महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में सारे प्रशिक्षणों का अंतिम उद्देश्य मनुष्य का विकास करना है। इसीलिए वह शिक्षा के द्वारा मनुष्य के शारीरिक विकास की बात करते थे। वे बलिष्ठ मनुष्यों की आवश्यकता पर बल देते थे। वे कहते हैं, "प्रथम तो हमारे युवकों को बलवान बनाना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे युवक बंधु, तुम बलवान बनो—यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता पाठ करने की अपेक्षा तुम्हें फुटबॉल खेलने से स्वर्ग-सुख अधिक सुलभ होगा।...बलवान शरीर से अथवा मज़बूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में ताज़ा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान तेजस्विता अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भलीभाँति समझोगे।" (वि. सा. 5, पृ. 137) विवेकानन्द इसलिए कहते हैं, "आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धा सम्पन्न और दृढ़ विश्वासी निष्कपट नवयुवकों की।" (वि. सा. 5, पृ. 118) वे अन्यत्र कहते है, "हमें निर्भीक, साहसी मनुष्यों का ही प्रयोजन है। हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है, लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु चाहिए न कि दुर्बलता लाने वाले वाहियात विचार।" (वही, पृ. 172) इस प्रकार विवेकानन्द शारीरिक व्यायाम, शक्ति और बल को शिक्षा के लिए ही नहीं आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक समझते थे।

विवेकानन्द के विचारों का महत्त्व इसी कारण है कि उन्होंने पश्चिम से ग्रहण करने योग्य बातों को खुले दिल से स्वीकार किया—ध्येय उनका ग़रीब भारत को पश्चिम के बराबर ले जाकर खड़ा करना था। यही कारण है कि वे भाषा के मामले में जहाँ एक ओर संस्कृत को महत्त्व देते हैं और इसे सीखने पर बल देते हैं "क्योंकि धर्मभाव को प्रकट करने के लिए एकमात्र पूर्ण साधन संस्कृत भाषा ही है।" (वि. सा. 9, पृ. 373) वहाँ "मनुष्यों को बोलचाल की भाषा में" शिक्षा देने की बात कहते हैं लेकिन साथ ही यह कहना नहीं भूलते कि "संस्कृत की भी शिक्षा अवश्य होनी चाहिए।" (वि. सा. 5, पृ. 184) इसके साथ ही वे "विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो, और साथ-साथ अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान को भी सीखा जाये" की बात भी करते हैं। (वि. सा. 8, पृ. 231) वे अंग्रेज़ी तथा देशी भाषाओं में समाचार-पत्र प्रकाशित करने की घोषणा भी करते हैं। (वि. सा. 3, पृ. 372) इस प्रकार वे भारतीय और विदेशी भाषा के समन्वय पर बल देते दिखाई पड़ते हैं। लोगों को आम बोलचाल की भाषा में ज्ञान देने के साथ-साथ वे संस्कृत और अंग्रेज़ी को भी अपनाने का समर्थन करते हैं। संस्कृत का समर्थन इसलिए कि इससे "जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त होता है।" (वि. सा. 5, पृ. 184) और अंग्रेज़ी का इसलिए कि विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

विवेकानन्द ने शिक्षा ग्रहण पर बात करते समय स्थान-स्थान पर गुरु-शिष्य परम्परा पर बल दिया है। उनका निश्चित मत था कि "जब तक इस देश में अध्यापन और शिक्षा का भार त्यागी और निस्पृह पुरुष वहन नहीं करेंगे, तब तक भारत को दूसरे देशों के तलवे चाटने पड़ेंगे।" (वि. सा. 8, पृ. 232) यानी वे गुरु के लिए त्याग और निस्पृहता का गुण अनिवार्य मानते हैं। इसके बिना ज्ञान-दान दिया भी नहीं जा सकता। विवेकानन्द ने गुरु होने के लिए कुछ गुण अनिवार्य रखे हैं। इनका उन्होंने सविस्तार वर्णन किया है। संक्षेप में ये गुण इस प्रकार हैं—

गुरु को 'धर्मशास्त्रों' का मर्म ज्ञात हो। गुरु के लिए दूसरी आवश्यक बात है—निष्पापता। एक अपवित्र व्यक्ति हमें क्या धर्म सिखायेगा? स्वयं आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करने और दूसरों में उसका संचार करने का एकमात्र उपाय है—हृदय और मन की पवित्रता।

गुरु के लिए तीसरी आवश्यक बात है—उद्देश्य। गुरु को धन, नाम या यश संबंधी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु धर्म शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो केवल प्रेम से, सारी मानव जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों।

गुरु के लिए इन तीन लक्षणों का सार है कि केवल वही जो शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धहीन और श्रेष्ठ ब्रह्मशक्ति है सच्चा गुरु है। (वि. सा. 4, पृ. 21-24)

गुरु के साथ-साथ शिष्य के लिए भी कुछ शर्तों का विवेकानन्द ने उल्लेख किया है। इनका विवेचन भी उन्होंने विस्तार से किया है। संक्षेपतः वे चार शर्तें इस प्रकार हैं—जो शिष्य सत्य को जानना चाहता है, वह इस लोक अथवा परलोक में कुछ प्राप्त करने की सभी इच्छाओं को त्याग दे।

शिष्य को अपनी अंतरिन्द्रियों और बहिरिन्द्रियों को नियंत्रित करने में समर्थ होना चाहिए और कुछ अन्य आध्यात्मिक गुणों में दृढ़ होना चाहिए।

शिष्य में मुक्त होने की आकांक्षा अत्यंत तीव्र हो।

शिष्य को सत् और असत् का विवेक हो। (वि. सा. 3, पृ. 191-203)

ध्यातव्य है कि गुरु-शिष्य के लिए निर्धारित शर्तों को विवेकानन्द शिक्षा के क्षेत्र में भी लागू करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे ज्ञान को, वो चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, एक महादान मानते हैं। ये महादान स्वार्थी, धनलोलुप कैसे दे सकता है। विवेकानन्द ने तो द्रव्य लेकर ज्ञान देने को भी बुरा बताया है जबकि आजकल यह एक व्यवसाय बन चुका है और 'ट्यूशन' की प्रवृत्ति आम बात है। इस संदर्भ में विवेकानन्द का कथन भी द्रष्टव्य है—"दो दान विशेष रूप से सम्मानित हैं—एक तो विद्या का दान और दूसरा जीवन का दान। किन्तु विद्या-दान श्रेष्ठतर है। कोई किसी की जान बचा ले, बड़ी अच्छी बात है। पर यदि कोई किसी दूसरे को ज्ञान दे, तो यह और भी अच्छी बात है। द्रव्य के लिए शिक्षा देना बुरी बात है और जो विद्या को एक पण्य वस्तु मानकर उसका विनिमय स्वर्ण से करता है, उसको कलक लगता है। सरकार समय-समय पर अध्यापकों को सहायता प्रदान करती है और इसका नैतिक प्रभाव, तथाकथित सभ्य देशों की जैसी स्थिति है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा पड़ता है।" (वि. सा. 1, पृ. 266)

इसी परिप्रेक्ष्य में गुरु-शिष्य संबंधों पर अपने विचार प्रकट करते हुए विवेकानन्द कहते हैं, "गुरु कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जो बस कहीं से आकर मुझे शिक्षा दे देता है और उसके बदले में मैं उसे कुछ धन देता हूँ और बात खत्म हो जाती है। भारत में यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध वैसी ही प्रथा है, जैसे पुत्र को गोद लेना। गुरु पिता से भी बढ़कर हैं, मैं उनकी आज्ञा का अनुचर हूँ, उनसे बढ़कर वे मेरे सम्मान्य हैं—और वह इसलिए कि जहाँ मेरे पिता ने मुझे केवल यह शरीर मात्र दिया, मेरे गुरु ने मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया और इसलिए वे पिता से बढ़कर हैं। मेरा अपने गुरु के प्रति यह सम्मान जीवन-व्यापी होता है, मेरा प्रेम चिरजीवी होता है। बस एकमात्र यही सम्बन्ध है, जो बच रहता है। मैं इसी प्रकार अपने शिष्यों को ग्रहण करता हूँ। कभी-कभी तो गुरु एकदम नवयुवक होता है और शिष्य कहीं अधिक बूढ़ा। पर चिन्ता नहीं, बूढ़ा पुत्र बनता है और मुझे 'पिता' शब्द से सम्बोधन करता है और मुझे भी उसे पुत्र अथवा पुत्री कहकर पुकारना पड़ता है।" (वि. सा. 10, पृ. 8)

विवेकानन्द जैसा प्रखर चिन्तक इस मनोवैज्ञानिक सत्य से पूर्णतया परिचित था कि परोसी गई शिक्षा अपर्याप्त ही नहीं, हानिकारक भी है। उनका ज़ोर इस बात पर है कि व्यक्ति का विकास उसके भीतर से हो, बाहर की ठूँसा-ठूँसी से नहीं। "तुम किसी पौधे को ऐसी ज़मीन में नहीं उगा सकते, जो उसके उपयुक्त न हो। बालक अपने आप ही सीख लेता है। तुम तो उसे उसके ही मार्ग में आगे बढ़ने के लिए सहायता मात्र दे सकते हो। तुम उसके मार्ग की कठिनाइयों को दूर कर सकते हो, पर ज्ञान तो उसके अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। ज़मीन को कुछ पोली कर दो, जिससे अंकुर आसानी से फूट सके। उसके चारों ओर एक घेरा बना दो, सावधानी रखो कि कोई उसे नष्ट न कर डाले, पाला या बर्फ़ से उसका नाश न हो जाय। बस यहीं तुम्हारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। इससे अधिक और कुछ तुम नहीं कर सकते। शेष सब तो उसकी प्रकृति के भीतर से ही अभिव्यक्त होता है। यही बात बालक की शिक्षा के संबंध में भी है। बालक अपने को स्वयं ही शिक्षा देता है।" (वि. सा. 9, पृ. 55) इस बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं, "करोड़ों निर्दोष बालकों को शिक्षा के ग़लत तरीकों से विकृत किया जा रहा है। इससे होने वाले भयंकर अनिष्ट

पर विचार करो। कितनी ही ऐसी सुन्दर चीज़ें जो आगे चलकर सुन्दर आध्यात्मिक सत्यों के पुष्पों के रूप में प्रस्फुटित होतीं, उन्हें हमने वंशपरम्परागत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म इत्यादि की भयंकर भावनाओं द्वारा कलिका रूप में ही कुचल डाला है! सोचो तो सही, अभी भी तुम्हारे दिमाग में अपने बाल्यकाल के धर्म या अपने देश के धर्म के संबंध में कैसे-कैसे अन्धविश्वास भरे पड़े हैं, और उनसे कितना अनिष्ट हो रहा है एवं हो जाता है। मनुष्य यह नहीं जानता कि उससे कितना अनिष्ट हो सकता है। प्रत्येक विचार या कार्य के पीछे कितनी प्रबल प्रसुप्त शक्ति है, उसे वह नहीं जानता।" (वि. सा. 9, पृ. 55-56)

वस्तुतः विवेकानन्द की मूल दृष्टि आत्मविकास की है। वे भौतिक और आध्यात्मिक शिक्षा को साथ-साथ लेकर चले हैं। केवल उपाधियाँ ग्रहण करना और सारा जीवन स्वार्थसिद्धि में व्यतीत करने वाली शिक्षा प्रणाली में उनका कोई विश्वास नहीं था। वे भारत और पश्चिम का समन्वय करने की तात कहते हुए मूलाधार के रूप में भारतीय शिक्षा प्रणाली को ही महत्त्व देते थे। विवेकानन्द का शिक्षा-दर्शन यथार्थवादी है। इस संदर्भ में डॉ. भरतकुमार तिवारी का कथन द्रष्टव्य है, "विवेकानन्द ने स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन सभी में शिक्षा के प्रसार पर ज़ोर दिया है। उनकी शिक्षा-प्रणाली भारत की दार्शनिक और आध्यात्मिक परम्परा के अनुरूप थी। उन्होंने एक ओर भारत को पाश्चात्य विज्ञान और प्रवृत्तिवाद अपनाने के लिए कहा वहाँ उन्होंने दूसरी ओर ब्रह्मचर्य और अध्यात्म के प्राचीन आदर्शों को शिक्षा में सबसे प्रमुख स्थान दिया। युवक-युवतियों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय उन्होंने साहस, आत्मविश्वास, एकाग्रता, अनासक्ति तथा उंच्च नैतिक चरित्र के गुण निर्माण करने पर विशेष रूप से ध्यान दिया। उन्होंने सब कहीं सन्तुलित और समन्वयवादी दृष्टिकोण रखा और शिक्षा के माध्यम से समाज में सर्वांग मानववाद स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार अत्यधिक व्यावहारिक और यथार्थवादी हैं।" (डॉ. भरतकुमार तिवारी : विवेकानन्द का दार्शनिक चिन्तन, पृ. 176-177)

तृतीय अध्याय

विवेकानन्द के चिन्तन में धर्म

विवेकानन्द के समस्त चिन्तन का आधार धर्म है। मूलतः वे एक आध्यात्मिक व्यक्ति थे। वेदान्त को आधार बनाकर उन्होंने केवल हिन्दू धर्म का ही नहीं वरन् अन्य सभी धर्मों का भी विश्लेषण किया है। अपने चिन्तन, अध्ययन और विदेश-भ्रमण से उन्होंने जो दृष्टि प्राप्त की वो अन्य सभी बड़े चिन्तकों के समान अत्यन्त व्यापक थी। अपने इसी व्यापक दृष्टिकोण को उन्होंने धर्म संबंधी अपने विचारों में अभिव्यक्त किया है। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में धर्म की व्याख्या करते हैं ताकि किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की भ्रांति न रहे और वे इसकी वास्तविकता को समझें और इसके मर्म तक पहुँचें। वे धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत ईश्वर संबंधी सभी मतों को रखने के पक्षपाती थे। उनका कहना था, "ईश्वर संबंधी सभी सिद्धान्त—सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव-धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए।" (वि.सा. 2, पृ. 200)

वे धर्म को ज्ञान पर निर्भर नहीं मानते। सामान्य धर्म पुस्तकीय ज्ञान या वाग्मिता से प्राप्त नहीं होता। अतः "प्रत्यक्ष उपलब्धि ही यथार्थ धर्म है, वही धर्म का सार है और शेष सब—उदाहरणार्थ, धर्म संबंधी भाषण सुनना, धार्मिक ग्रंथों का पाठ करना या विचार करना उस उपलब्धि के लिए ज़मीन की तैयारियाँ मात्र हैं। वह यथार्थ धर्म नहीं है। केवल किसी मत के साथ बौद्धिक सहमति अथवा असहमति धर्म नहीं है।" (वि. सा. 1, पृ. 147) अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे अन्यत्र कहते

हैं, "धर्म का अर्थ है आत्मानुभूति, परन्तु केवल कोरी बहस, खोखला विश्वास, अँधेरे में टटोलबाज़ी तथा तोते के समान पूर्वजों के शब्दों को दोहराना और ऐसा करने में धर्म समझना, एवं धार्मिक सत्य में से कोई राजनैतिक विष ढूँढ निकालना—यह सब धर्म बिलकुल नहीं है।" (वि. सा. 7, पृ. 263) अतः धर्म न तो मतों में है न पंथों में और न तार्किक विवाद में ही। विवेकानन्द की दृष्टि में, "तुम इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न सिद्धांतों में और न पुस्तकों में, वह है प्रत्यक्ष अनुभव में। वह 'सीखना' नहीं है, 'होना' है।...धर्म अनुभव करना है, और मैं तुमको ईश्वर का उपासक तभी कहूँगा, जब तुम इस आदर्श को सिद्ध करने में समर्थ हो जाओगे। उसके पूर्व ये सारे व्यापार शब्द की वर्तनी मात्र हैं। साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति की यह शक्ति ही धर्म की निर्माणक है। अपने मस्तिष्क में सिद्धान्तों, दर्शनों और नैतिक पुस्तकों को जितना चाहे ठूँस लो, उससे कुछ लाभ नहीं होने का, असली चीज़ है—वह जो तुम हो तथा वह सत्य जिसे तुमने उपलब्ध किया है। अतः हमें धर्म को जीवन में सिद्ध करना है, और धर्म की यह सिद्धि एक लंबी प्रक्रिया है।" (वि. सा 9, पृ. 36) इस लंबी प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ही विवेकानन्द ने धर्म के क्षेत्र में सभी को बच्चा कहा है। "धर्म के क्षेत्र में हम सब बच्चे ही हैं। हम उम्र में चाहे बूढ़े हों, संसार की सारी पुस्तकों का अध्ययन चाहे हमने कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सब बच्चे ही हैं।" (वही)

विवेकानन्द ने अपने दृष्टिकोण के आधार पर धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। धर्म की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं, "धर्म का अर्थ है, उस ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।" (वि. सा. 2, पृ. 328) अन्यत्र वे कहते हैं, "धर्म का अर्थ है आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लेना और तद्रूप हो जाना।" (वि. सा. 3, पृ. 248) धर्म की इस परिभाषा के आधार पर वे इसके सर्वस्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अंतः प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्म भाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनः संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्म भाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ, बस यही धर्म का

सर्वस्व है।'' (वि. सा. 1, पृ. 173)

स्वामी विवेकानन्द ने वास्तव में धर्म के बाह्य रूप को इसका मूलाधार स्वीकार नहीं किया। वे धर्म को मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप के साथ जोड़कर देखते हैं। मनुष्य में धर्म की उत्पत्ति के विषय में उनका कहना है, ''धर्म की उत्पत्ति प्रखर आत्मत्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरों के लिए करो—यही ईश्वर में निवास करना, उन्हीं में विचरन करना और अपने अपनेपन को उन्हीं की प्रतिष्ठा में पाना है।'' (वि. सा. 2, पृ. 254) विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म कहीं बाहर से नहीं आता। ''बल्कि व्यक्ति के आभ्यन्तर से ही उदित होता है। मेरी यह आस्था है कि धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित हैं, और यह बात इस सीमा तक सत्य है कि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी, तब तक यह संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक किसी न किसी रूप में धर्म रहेगा ही। इस तरह विश्व में हमें धर्म के विभिन्न रूप मिलते हैं। बात कुछ विकट ज़रूर लगती है; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता, जैसा कुछ लोग कहते हैं कि यह सब निरर्थक परिकल्पना है।'' (वि. सा. 4, पृ. 187) इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द धर्म का संबंध मनुष्य की आंतरिकता से जोड़ते हैं। साथ ही उनका यह भी दृढ़ विश्वास था कि, ''कोई भी अपवित्र मनुष्य धर्म के यथार्थ सत्य को किसी काल में प्राप्त नहीं कर सकता।'' (वि. सा. 1, पृ. 120) स्पष्ट है कि पवित्र हुए बिना मनुष्य धर्म के मूल सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। विवेकानन्द इस सत्य से भलीभाँति परिचित थे कि पवित्र होना और धर्म को अपने भीतर से विकसित करना सरल नहीं है। सम्भवतः इसलिए उन्होंने कहा, ''धर्म की चाह बड़ी कठिन बात है। इसे हम साधारणतः जितना सरल समझते हैं, उतना सरल नहीं है। फिर हम यह तो सदा भूल ही जाते हैं कि व्याख्यान सुनना या पुस्तकें पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत संघर्ष है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना; जब तक उस पर विजय प्राप्त न हो जाय तब तक निरन्तर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो दिन, कुछ वर्षों या जन्मों का प्रश्न नहीं है। इसमें तो सैकड़ों जन्म बीत जायें, तो भी हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सम्भव है हमें अपनी प्रकृति पर तुरन्त विजय मिल जाय; या सम्भव है सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय

प्राप्त न हो; पर हमें उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस भावना के साथ अग्रसर होता है, उसको सफलता मिलती है।" (वि. सा. 9, पृ. 25)

धर्म के इस कठिन रास्ते पर चलने के पहले लक्षण का परिचय भी विवेकानन्द ने दिया है—"तुम धर्म पथ में अपने अग्रसर होने का प्रथम लक्षण यह देखोगे कि तुम दिन पर दिन बड़े प्रफुल्ल होते जा रहे हो। यदि कोई व्यक्ति विषादयुक्त दिखे, तो वह अजीर्ण का फल भले ही हो, पर धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। सुख का भाव ही सत्व का स्वाभाविक धर्म है, सात्विक मनुष्य सभी सुखमय प्रतीत होते हैं।" (वि. सा. 1, पृ. 180) "धर्म के इस लक्षण को प्राप्त करना तभी संभव है यदि मनुष्य पवित्र हो, धर्म का भाव उसके भीतर से ही प्रस्फुटित हुआ हो और उसका यह भीतरी धर्म दूसरों को सुख पहुँचाने वाला हो। यह सुख तभी प्राप्त हो सकता है यदि धर्म ग्रहणशील हो और ईश्वर संबंधी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक-दूसरे का तिरस्कार न करता हो।" (वि. सा. 2, पृ. 200)

धर्म को मनुष्य के अभ्यन्तर में विकसित होने वाला मानने पर भी विवेकानन्द इसके बाह्य रूप की उपेक्षा नहीं करते। उनका कहना है, "धर्म का वह अंश जो प्राकृतिक, जागतिक भाव को लेकर व्यस्त रहता है, सर्व-साधारण के लिए बहुत मान्य होता है, और उसका दूसरा अंश अर्थात् दर्शन या मनोविज्ञान जो केवल मनुष्य की आभ्यान्तरिक प्रकृति को लेकर संलग्न रहता है, वह प्रायशः लोगों द्वारा उपेक्षित होता है।" (वि. सा. 1, पृ. 141) धर्म के इस जागतिक रूप की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "मन्दिर और गिरजा, पोथी और पूजा ये धर्म के केवल शिशुशाला मात्र हैं, जिनके द्वारा आध्यात्मिक शिशु पर्याप्त बलवान होता है, जिससे वह उच्चतर सीढ़ियों पर पैर रखने में समर्थ होता है। यदि उसकी इच्छा है कि उसकी धर्म में गति हो, तो यह पहली सीढ़ियाँ आवश्यक हैं।" (वि. सा. 3, पृ. 248)

धर्म के इस बाह्य रूप में सबसे महत्त्वपूर्ण है प्रतीक पूजा, जिसके अन्तर्गत देवदूतों, पूर्वजों या पवित्र मनुष्यों (महात्मा, संत इत्यादि) की या मृत आत्माओं की पूजा आती है। विवेकानन्द की यह स्पष्ट मान्यता थी कि इनके प्रतीकों की पूजा मोक्ष या मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। वे इस

पूजा के खतरे की ओर संकेत करते हुए कहते हैं, "डर इस बात का है कि प्रतीक वहाँ तक तो ठीक हैं, जहाँ तक वे हमें अगले सोपान तक ले जाते हैं, पर 99 प्रतिशत सम्भावना तो यही है कि हम सारे जीवन उन्हीं से चिपके रह जायेंगे। किसी धर्म-संघ में जन्म लेना बहुत अच्छा है, पर उसी में मर जाना बहुत बुरा है। अधिक स्पष्ट रीति से कहा जाय तो किसी सम्प्रदाय में जन्म लेना और उसकी शिक्षा ग्रहण करना बहुत आवश्यक है। उससे हमारे सद्गुणों का विकास होता है। पर अधिकांश संख्या तो ऐसों की ही होती है, जो उसी छोटे से सम्प्रदाय में रहते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। न वे उससे बाहर निकलते हैं और न उनकी उन्नति होती है। इन प्रतीकों की उपासना में बहुत बड़ा भय यही है।" (वि. सा. 9, पृ. 42) वास्तव में ये सब तो मार्ग की सीढ़ियाँ हैं। इनका तभी तक उपयोग सार्थक है जब तक व्यक्ति धर्म के क्षेत्र में अग्रसंर न हो जाए।

विवेकानन्द ने अपने अध्ययन और भ्रमण से विश्व के सभी प्रमुख विकसित, अविकसित धर्मों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया था। इसलिए उनका मानना था, "सभी धर्मों में कोई एक सर्वव्यापी सत्य है तो मैं कहूँगा कि वह है ईश्वर को पाना। आदर्श और साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर मौलिक तथ्य यही है।" (वि. सा. 2, पृ. 234) विवेकानन्द की दृष्टि में सभी धर्म, "प्रकृति के बन्धन को तोड़ने की अल्पाधिक चेष्टा कर रहे हैं। चाहे देवोपासना द्वारा हो, चाहे प्रतीकोपासना द्वारा, चाहे दार्शनिक विचारों द्वारा हो, अथवा देव-चरित्र, प्रेत-चरित्र, साधु-चरित्र, ऋषि-चरित्र, महात्मा-चरित्र अथवा अवतार-चरित्र की सहायता से अनुष्ठित हो, सभी धर्मों का, चाहे वे विकसित हों चाहे अविकसित, उद्देश्य एक ही है–सभी सीमाओं के परे जाना। संक्षेप में, सभी धर्म मुक्ति की ओर अग्रसर होने का कठोर प्रयत्न कर रहे हैं। जाने या अनजाने मनुष्य समझ गया है कि वह बद्ध है।" (वि. सा. 2, पृ. 58) इसी बद्धता से मुक्त होने के लिए मनुष्य प्रयत्नरत है। विवेकानन्द की दृष्टि में मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सारे इतिहास की व्याख्या यही है कि एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न स्तरों में से होकर अपने को अभिव्यक्त करती है। इसी तथ्य को आधार बनाकर विवेकानन्द सभी धर्मावलम्बियों से कहते हैं, "हरेक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इसी तरह अर्थात् ईश्वर समझकर सोचें और उससे उसी तरह अर्थात् ईश्वर दृष्टि से बर्ताव करें, उससे घृणा

न करें, उसे कलंकित न करें और न उसकी निंदा ही करें। किसी भी तरह उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा भी न करें। ये केवल संन्यासी का ही नहीं वरन् सभी नर-नारियों का कर्तव्य है। आत्मा में लिंग या जाति-भेद नहीं है, न उसमें अपूर्णता ही है।" (वि. सा. 2, पृ. 327)

विवेकानन्द का धर्म संबंधी दृष्टिकोण व्यापक ही नहीं यथार्थवादी भी है। इसीलिए वह इस सत्य को जान सके कि सभी धर्म एक ही हैं। उनका मानना है, "यद्यपि सभी धर्म एक ही हैं, तो भी विभिन्न देशों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण उनके बाह्य रूप में भिन्नता आ ही जाती है और जहाँ तक बाह्य रूप का संबंध है हममें से प्रत्येक को अपना-अपना व्यक्तिगत धर्म चुनना आवश्यक है।" (वि. सा. 2, पृ. 235) अन्यत्र भी उन्होंने इस बात को इस प्रकार कहा है, "धर्म एक ही है, परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए। अतएव, सभी अपना धार्मिक संदेश तो दें परन्तु दूसरे धर्मों में कोई त्रुटि न देखें।" (वि. सा. 2, पृ. 253)

स्वामी विवेकानन्द धर्म के दो सिद्धांत मानते हैं—आत्ममूलक और विकासमूलक। "पहले सिद्धांत के अनुसार पूर्वजों की पूजा से ही धार्मिक विकास हुआ; दूसरे के अनुसार प्राकृतिक शक्तियों को वैयक्तिक स्वरूप देने से धर्म का प्रारंभ हुआ।" (वि. सा. 2, पृ. 191) विवेकानन्द इन दोनों सिद्धांतों के बीच समन्वय करके एक तीसरे आधार को प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में उनका कहना है, "यद्यपि ये दोनों सिद्धांत परस्पर विरोधी लगते हैं, किन्तु उनका समन्वय एक तीसरे आधार पर किया जा सकता है, जो मेरी समझ में धर्म का वास्तविक बीज है और जिसे मैं इंद्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने के लिए प्रयत्न मानता हूँ। एक ओर मनुष्य अपने पितरों की आत्माओं की खोज करता है, मृतकों की प्रेत आत्माओं को ढूँढता है। अर्थात् मनुष्य के शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी वह जानना चाहता है कि उसके बाद क्या होता है। दूसरी ओर मनुष्य प्रकृति की विशाल दृश्यावली के पीछे काम करने वाली शक्ति को समझना चाहता है। इन दोनों ही स्थितियों में इतना तो निश्चित है कि मनुष्य इन्द्रियों की सीमा से बाहर जाना चाहता है। वह इन्द्रियों से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह इनसे परे भी जाना चाहता है। इस व्याख्या को रहस्यात्मक रूप देने की आवश्यकता नहीं। मुझे तो यह बिलकुल स्वाभाविक लगता है कि धर्म की पहली झाँकी

स्वप्न में ही मिली होगी। मनुष्य अमरता की कल्पना स्वप्न के आधार पर कर सकता है। कैसी अद्‌भुत है स्वप्न की अवस्था! हम जानते हैं कि बच्चे तथा कोरे मस्तिष्क वाले लोग स्वप्न और जाग्रत स्थिति में कोई भेद नहीं कर पाते। उनके लिए साधारण तर्क के रूप में इससे अधिक और क्या स्वाभाविक हो सकता है कि स्वप्नावस्था में भी जब शरीर प्रायः मृत-सा हो जाता है, मन के सारे जटिल क्रिया-कलाप चलते रहते हैं। अतः इसमें क्या आश्चर्य, यदि मनुष्य हठात् यह निष्कर्ष निकाल ले कि इस शरीर के विनष्ट हो जाने पर इसकी क्रियाएँ जारी रहेंगी? मेरे विचार से अलौकिकता की इससे अधिक स्वाभाविक व्याख्या और कोई नहीं हो सकती, और स्वप्न पर आधारित इस धारणा को क्रमशः विकसित करता हुआ मनुष्य ऊँचे विचारों तक पहुँच सका होगा।" (वि. सा. 2, पृ. 193)

विवेकानन्द धर्म की दो अतियाँ मानते हैं—धर्मांधता और नास्तिकता। "नास्तिक में कुछ अच्छाई है किन्तु धर्मांध तो केवल अपने क्षुद्र अहम् के लिए जीवित रहता है। धर्मांधों का कोई धर्म नहीं होता।" (वि. सा. 10, पृ. 260) इस धर्मांधता को अत्यंत विस्तार से विवेकानन्द ने अलग-अलग भाषणों में अभिव्यक्त किया था। धर्मांधता और कट्टरता का स्पष्ट उद्‌घाटन करते हुए वे कहते हैं, "प्रत्येक धर्म का दावा है कि उसका अपना ग्रन्थ ही प्रामाणिक ब्रह्मवाक्य है; अन्य सब धर्मग्रंथ झूठे हैं और दीन-हीन मानव के विश्वास पर जबरदस्ती थोपे गये हैं, तथा अन्य धर्म को मानना अज्ञानता एवं आध्यात्मिक अंधता है। सभी धर्मों के कट्टरपंथियों में इस प्रकार की धर्मांधता पायी जाती है। उदाहरणार्थ, कट्टर वैदिकमार्गियों का दावा है कि वेद ही ईश्वर का प्रामाणिक वचन है; ईश्वर ने वेदों के द्वारा ही विश्व को उपदेश दिया है; इतना ही नहीं, वरन् वेदों के ही प्रताप से यह लोक टिका है। विश्व की सृष्टि के पूर्व वेद थे। विश्व में सबका अस्तित्व इसलिए है कि वेदों में उनकी विद्यमानता है। गाय का अस्तित्व इसलिए है कि वेदों में गाय का नाम आया है, अर्थात् जिस पशु को हम गाय नाम से जानते हैं, उसका उल्लेख वेदों में है। वैदिक भाषा ईश्वर की आदिभाषा है; अन्य सभी भाषाएँ केवल बोलियाँ हैं और वे ईश्वरीय नहीं हैं। वेदों के प्रत्येक शब्द और मात्रा का उच्चारण सही-सही करना चाहिए, प्रत्येक ध्वनि का स्वर ठीक होना चाहिए तथा इस कठोर शुद्धता का किंचित् भी स्खलन भयानक पाप है और अक्षम्य है। इस प्रकार, ऐसी धर्मांधता सभी धर्मों

के कठमुल्लों में प्रबल रूप से व्याप्त है। लेकिन जो अनभिज्ञ हैं, जो आध्यात्मिक अंधे हैं, वे ही शब्दों के पीछे लड़ते हैं। जो लोग वास्तव में धार्मिक प्रवृत्ति के हो गये हैं, वे विभिन्न धर्मों के बाह्य शाब्दिक स्वरूप पर झगड़ा नहीं करते। वे जानते हैं कि सब धर्मों का प्राण एक ही है। परिणामस्वरूप वे किसी से इस कारण झगड़ा नहीं करते कि वह उनकी भाषा नहीं बोलता।'' (वि. सा. 9, पृ. 160)

विवेकानन्द सभी प्रसिद्ध और प्रचलित धर्मों के तीन भाग मानते हैं—दार्शनिक, पौराणिक और आनुष्ठानिक जिसे अन्यत्र उन्होंने कर्मकाण्ड भी कहा है। पहला है, दार्शनिक भाग। ''इसमें उस धर्म का सार विषय अर्थात् मूल तत्त्व, उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधन निहित होते हैं। दूसरा है, पौराणिक भाग। यह स्थूल उदाहरणों के द्वारा दार्शनिक भाग को स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्यों एवं अलौकिक पुरुषों के जीवन के उपाख्यान आदि होते हैं। इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व, मनुष्यों या अतिप्राकृतिक पुरुषों के थोड़े-बहुत काल्पनिक जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाये जाते हैं। तीसरा है, आनुष्ठानिक भाग। यह धर्म का स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान, विविध शारीरिक अंग-विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी प्रभृति नाना प्रकार की इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्म का संगठन होता है। तुम देख सकते हो कि सारे प्रसिद्ध धर्मों के ये तीन विभाग हैं। कोई धर्म दार्शनिक भाग पर अधिक ज़ोर देता है, कोई अन्य दूसरे भागों पर।'' (वि. सा. 3, पृ. 14) विवेकानन्द ने धर्म के इन तीन भागों को धर्म की तीन अवस्थाएँ भी स्वीकार किया है। (देखिए वि. सा. 2, पृ. 241)

विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म के निर्माण के लिए कुछ उपादान आवश्यक होते हैं। ये उपादान धर्म की मूल आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं में पहला स्थान ग्रन्थ का है। ''ग्रन्थ की शक्ति अद्भुत है। कारण जो भी हों, ग्रन्थ मानवीय श्रद्धा के ध्रुव केन्द्र हैं। आज के जीवित धर्मों में ऐसा कोई भी नहीं है जिसका अपना ग्रन्थ न हो। तर्कवाद और लम्बी-चौड़ी बातों के बावजूद मानवता ग्रन्थों से चिपकी हुई है।...आज जितने भी जीवित धर्म हैं, उनमें से हरेक का अपना स्वतंत्र ग्रन्थ है।'' (वि. सा. 9, पृ. 77-78)

धर्म की दूसरी आवश्यकता व्यक्ति विशेष के प्रति पूज्य भाव है। यह विशिष्ट व्यक्ति विश्व के स्वामी या महान उपदेशक के रूप में पूजा जाता

है। "मनुष्य के लिए किसी देहधारी मानव की उपासना करना अनिवार्य है। कोई अवतारी पुरुष, पैगम्बर या महान नेता मानव को चाहिए ही। सारे धर्मों में आज यही बात दिखाई देगी।" (वही, पृ. 78) इस बात को विवेकानन्द ने अन्यत्र इस प्रकार व्याख्यायित किया है, "संसार में प्रत्येक अन्य धर्म किसी धर्म प्रवर्तक अथवा धर्म प्रवर्तकों के जीवन से ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। ईसाई धर्म ईसा के, इस्लाम धर्म मोहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म जिनों के और अन्यान्य धर्म अन्यान्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं।" (वि. सा. 5, पृ. 144)

धर्म की तीसरी आवश्यकता सबल और आत्म-विश्वास युक्त होने के लिए केवल अपने को ही सत्य मानना है अन्यथा जन-समाज पर उसका प्रभाव नहीं के बराबर होगा। यही बात धर्म को कट्टरता और धर्मांधता की ओर ले जाती है। अपने ही मत अथवा सम्प्रदाय को सत्य मानना और दूसरे मतावलम्बियों से घृणा करना इनके लिए आवश्यक होता है। "कोई सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों से जितनी घृणा करेगा, उतना ही वह सफल होगा और अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाता जाएगा।" (वि. सा. 9, पृ. 78-79) एक वेदान्ती होने के कारण वे धर्म की इन तीन आवश्यकताओं का समर्थन नहीं करते। कहीं-कहीं तो इनकी वे कटु आलोचना भी करते हैं। वस्तुतः ये तीनों अवस्थाएँ धर्म के बाह्य रूप और उसकी कट्टरता को ही बढ़ाती हैं और विवेकानन्द का सारा बल इन कट्टरताओं से परे धर्म को मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति के रूप में देखना और धर्म को इसी से उद्भूत मानना है।

विवेकानन्द इस बात के प्रति पूर्णतः सजग थे कि धर्म का अर्थ लोगों के लिए यही तीन आवश्यकताएँ हैं। इसीलिए उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में अपने कष्ट की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है, "हमारी पृथ्वी जैसी है, वैसी ही रहेगी। यह बात कठोर तो है, किन्तु इसके अतिरिक्त मैं और कोई मार्ग नहीं देखता। यह दुख जीर्ण गठिया के समान है। उसे एक स्थान से हटा देने पर वह दूसरे स्थान में चली जाती है। कुछ भी क्यों न करो, वह किसी तरह पूर्णरूपेण दूर नहीं हो सकती। दुख भी इसी तरह है। अति प्राचीन काल में लोग जंगल में रहा करते थे और एक-दूसरे को मारकर खा लेते थे। वर्तमान काल में मनुष्य एक-दूसरे का माँस नहीं खाते, परन्तु एक-दूसरे को ठगा खूब करते हैं। छल-कपट से नगर के नगर, देश के देश ध्वंस हुए जा रहे हैं। निश्चय ही यह किसी अधिक उन्नति का परिचायक

नहीं है। फिर, तुम लोग जिसे उन्नति कहते हो, उसे भी मैं उन्नति नहीं मानता—वह तो वासनाओं की लगातार वृद्धि मात्र है। यदि मुझे कोई बात स्पष्ट दिखती है, तो वह यही है कि वासना से केवल दुख का आगमन होता है। वह तो याचक की अवस्था है, सर्वदा ही कुछ न कुछ के लिए याचना करते रहना—बस, चाहना, चाहना, चाहना! यदि वासना पूर्ण करने की शक्ति गणितीय क्रम से बढ़े, तो वासना की शक्ति ज्यामितीय क्रम से बढ़ती है। इस संसार के सुख-दुख की समष्टि सर्वदा समान है। समुद्र में यदि एक तरंग कहीं पर उठती है, तो निश्चय ही कहीं पर एक गर्त उत्पन्न होगा। यदि किसी मनुष्य को सुख प्राप्त हुआ है, तो निश्चय ही किसी दूसरे मनुष्य या पशु को दुख हुआ है। मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है, पर कुछ प्राणियों की संख्या घट रही है। हम उनका विनाश करके उनकी भूमि छीन रहे हैं, हम उनका समस्त खाद्य द्रव्य छीन रहे हैं। तब हम किस तरह कहें कि सुख लगातार बढ़ रहा है? सबल जाति दुर्बल जाति को ग्रास बना रही है, पर क्या तुम समझते हो कि सबल जाति इससे कुछ सुखी होगी? नहीं, वे फिर एक-दूसरे का संहार करेंगी। मेरी तो समझ में नहीं आता कि व्यावहारिक स्तर पर यह संसार कैसे स्वर्ग बन जायगा! तथ्य उसके विरुद्ध है। सैद्धांतिक आधारों पर भी मैं देखता हूँ कि यह कभी सम्भव नहीं है।'' (वि. सा. 2, पृ. 174-175)

विवेकानन्द के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है कि वे धर्म के बाह्य रूप, धर्मांधता, कट्टरपन के विरुद्ध आग उगलते रहे हैं। उनको इस धरती के यदि स्वर्ग समान होने में संदेह है तो उसका कारण धर्म का यही रूप, लोगों की विशेषता, तथाकथित धार्मिक लोगों की स्वार्थपरता है। वे कहते हैं, ''यह संसार; यह स्वप्न—यह अति भयानक दुःस्वप्न—इसके देवालय और छल-कपट, इसके ग्रन्थ और लुच्चापन, इसके सुन्दर स्वप्न चेहरे और झूठे हृदय, इसके धर्म का बाहरी ढोंग और भीतर का अत्यंत खोखलापन और सबसे अधिक इसकी धर्म के नाम पर दुकानदार की-सी वृत्ति—मुझे इससे सख्त नफ़रत है।'' (वि. सा. 3, पृ. 380)

विवेकानन्द का मानना है क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अपमान करना है, भूखों को दर्शन सिखाना उनका अपमान करना है। (वि. सा. 1, पृ. 22) ''जो धर्म ग़रीबों का दुख नहीं मिटाता, मनुष्यों को देवता नहीं बनाता, क्या वह धर्म है?...जिस देश में करोड़ों मनुष्य महुआ खाकर

दिन गुज़ारते हैं, और दस-बीस लाख साधु और दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन ग़रीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, क्या वह देश है या नरक? क्या वह धर्म है या पिशाच का नृत्य?'' (वि. सा. 2, पृ. 337)

विवेकानन्द जहाँ धर्म के इस रूप की आलोचना करते हैं वहाँ इसके गुणों की प्रशंसा भी करते हैं। वस्तुतः धर्म के दोनों पक्षों पर उनकी दृष्टि है। दोनों ही पक्षों की समान रूप से व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, ''धर्म ने ही सर्वापेक्षा अधिक शान्ति और प्रेम का विस्तार किया है और साथ ही धर्म ने सर्वापेक्षा भीषण घृणा और विद्वेष की भी सृष्टि की है। धर्म ने ही मनुष्य के हृदय में भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा की है, साथ ही धर्म ने मनुष्यों में सर्वापेक्षा कठोर शत्रुता और विद्वेष का भाव भी उद्दीप्त किया है। धर्म ने ही मनुष्यों और पशुओं तक के लिए सबसे अधिक दातव्य चिकित्सालयों की स्थापना की है और साथ ही धर्म ने ही पृथ्वी में सबसे अधिक रक्त की नदियाँ प्रवाहित की हैं।'' (वि. सा. 3, पृ. 125) धर्म और भगवान् के नाम पर जितना खून बहा है उतना और किसी कारण से नहीं बहा। विवेकानन्द ने इसके मुख्य दो कारण माने हैं—पहला कि ''कोई भी व्यक्ति मूल तक नहीं गया।'' (वि. सा. 1, पृ. 37) अर्थात् धर्म के मूल स्वरूप को किसी ने पकड़ने की कोशिश नहीं की। स्वार्थ में अंधे लोगों ने धर्म के बाह्य रूप पर बल देकर अपनी चाँदी बनाई जिसके कारण केवल और केवल घृणा फैलती रही और रक्त बहता रहा। इसके दूसरे कारण की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा, ''धर्म में जो दोष एवं त्रुटियाँ लोग देखते हों, उनके लिए धर्म का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, उसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। धर्म ने कभी मनुष्यों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुड़ैल और डायन कहकर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया, किसी धर्म ने कभी इस प्रकार के अन्यायपूर्ण कार्य करने की शिक्षा नहीं दी तब लोगों को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिए किसने उत्तेजित किया? राजनीति ने—धर्म ने नहीं, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले, तो यह दोष किसका है?'' (वि. सा. 7, पृ. 183) इस प्रकार विवेकानन्द राजनीति को धर्म को घृणास्पद बनाने के लिए ज़िम्मेदार मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि राजनीति का ही दूसरा नाम स्वार्थ, सत्तालोलुपता,

धनलोलुपता और हर प्रकार की सांसारिक सुख-सुविधा है।

विवेकानन्द ने धर्म और सम्प्रदाय में भी स्पष्ट अन्तर किया है। उनका कहना है, "मैं धर्म और संप्रदाय में अन्तर मानता हूँ। धर्म समस्त प्रचलित संप्रदायों को यह मानकर स्वीकार करता है कि वे एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त एक ही प्रकार के प्रयास हैं। संप्रदाय कुछ विरोधी और संघर्षात्मक होता है। भिन्न-भिन्न संप्रदाय इसलिए हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं और संप्रदाय अपने को समाज-विशेष के अनुकूल बनाकर, जनता जो चाहती है, उसे वह प्रदान करता है। चूँकि दुनिया बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से अनंत प्रकार से भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों से बनी हुई है, इसलिए ये लोग महान् और मंगलमय नैतिक विधान के अस्तित्व में उस प्रकार का विश्वास ग्रहण करते हैं, जो उनके लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है। धर्म इन विश्वासों (संप्रदायों) को मान्यता प्रदान करता है और इनमें एक दिव्य तत्त्व निहित होने के कारण इनके विविध रूपों से उसे प्रसन्नता होती है।" (वि.सा. 8, पृ. 293, 294) वे सम्प्रदाय से बद्ध हो जाने को बंधन स्वीकार करते हैं। इसलिए वे धर्म की उच्च भूमि पर स्थित होने की बात कहते हैं। उनके शब्दों में, "जिस क्षण तुम सम्प्रदाय, औपचारिकता तथा कर्मकांड को ही सर्वस्व समझ लेते हो, उसी क्षण तुम बंधन में बँध जाते हो। दूसरों की सहायता के लिए इसका उपयोग करो, परन्तु इस बात से सावधान रहो कि ये सब बन्धन न बन जायें। धर्म एक ही है, परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए। अतएव सभी अपना-अपना धार्मिक संदेश तो दें, परन्तु दूसरे धर्मों में कोई त्रुटि न देखें।" (वि. सा. 2, पृ. 253) विवेकानन्द संप्रदाय को क्षुद्र कुएँ से अधिक नहीं समझते। वस्तुतः यही संप्रदाय की सबसे बड़ी सीमा है जिससे बाहर निकलने की आवश्यकता है। वह कहते हैं, "मैं हिंदू हूँ। मैं अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही सम्पूर्ण संसार है। ईसाई भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता है कि सारा संसार उसी के कुएँ में है और मुसलमान भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा उसी को सारा ब्रह्माण्ड मानता है।" (वि. सा. 1, पृ. 6) आवश्यकता इस क्षुद्र कुएँ रूपी सोच से बाहर आने की है जो व्यक्ति को सांप्रदायिक भावना से ऊपर उठा सके।

विवेकानन्द ने धर्म पर विचार करते हुए हिन्दू धर्म को ही आधार रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने हिन्दू धर्म पर विस्तार से विचार किया

है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दू धर्म शब्द का प्रयोग उन्होंने आज के संकीर्ण अर्थ में नहीं किया है। हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है, "हिन्दू धर्म का एक मूलभूत सिद्धांत यह है कि सभी मनुष्य भिन्न हैं और अनेकता में एकता है। मदिरासेवी के लिए भी कुछ मंत्र हैं और वेश्यागामी के लिए भी।" (वि. सा. 1, पृ. 292) वे इस सिद्धांत को हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता मानते हैं और इस संदर्भ में अन्य धर्मों से इसकी तुलना करते हुए इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं, "अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है। अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिए गए हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है।" (वि. सा. 1, पृ. 19)

विवेकानन्द हिन्दू धर्म की तीन सारभूत बातों को स्वीकार करते हैं—ईश्वर में, श्रुतिरूप वेदों में, कर्मवाद और जन्मान्तरवाद के सिद्धांत में विश्वास। (वि. सा. 1, पृ. 287) वे हिन्दू धर्म के दो मुख्य भाग मानते हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड का विशेष अध्ययन संन्यासी लोग करते हैं। ज्ञानकाण्ड में जातिभेद नहीं है। (वि. सा. 1, पृ. 23) कर्मकाण्ड के बारे में विवेकानन्द ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—"पुराने अंधविश्वास इस समय तक बढ़कर विधि-विधानों की एक प्रचण्ड राशि में परिणत हो गये थे और यह राशि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी; यहाँ तक कि अन्त में उसने हिन्दू जीवन को कुचल-सा डाला। वह आज भी विद्यमान है और हमें अच्छी तरह से जकड़े हुए है तथा हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में ओत-प्रोत होकर उसने हमें जन्म से ही गुलाम बना रखा है। फिर भी, हम साथ ही साथ, अत्यन्त प्राचीन काल से ही, इस कर्मकाण्ड की प्रगति के विरोध में आवाज़ें उठती पाते हैं। वहाँ इस कर्मकाण्ड के विरोध में एक बड़ी भारी आपत्ति यह उठायी गयी है कि विधि-अनुष्ठानों में रुचि, विशिष्ट समय में विशिष्ट वस्त्र का परिधान, विशिष्ट प्रकार से भोजन करने की रीति तथा इसी प्रकार के धार्मिक स्वाँग और आडम्बर धर्म के केवल बाहरी रूप हैं; क्योंकि तुम इन्द्रियों में ही संतोष मान लेते हो और उनके परे जाना नहीं चाहते। हमारे तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए, यही तो भारी कठिनाई है! जब हम आध्यात्मिक विषयों की चर्चा सुनते हैं, तब हम अधिक से अधिक क्या करते हैं? इन्द्रियों के

वृत्त में ही हमारा आदर्श सीमित रहता है और उसी के मानदण्ड से हम उन सबकी नाप-जोख करते हैं।'' (वि. सा. 1, पृ. 251) स्पष्ट है कि विवेकानन्द कर्मकाण्ड को कट्टरता और अंधविश्वास के साथ जोड़कर देखते हैं और इसके दुष्परिणामों की खुलकर व्याख्या करते हैं।

अंधविश्वास की कड़ी आलोचना करते हुए विवेकानन्द ने मानव स्वभाव की एक सामान्य प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है—''अपने अन्तरतम से यह समझ लो कि तुम्हारे ये सीमित विचार एवं काल्पनिक पुरुषों के सामने घुटने टेककर तुम्हारा रोना या प्रार्थना करना केवल अंधविश्वास है। मुझे एक ऐसा उदाहरण बताओ जहाँ बाज़ार से इन प्रार्थनाओं का उत्तर मिला हो। जो भी उत्तर पाते हो, वह अपने हृदय से ही। तुम जानते हो कि भूत नहीं होते, किन्तु अंधकार में जाते ही शरीर कुछ काँप-सा जाता है। इसका कारण यह है कि बिलकुल बचपन से ही हम लोगों के सिर में यह भय घुसा दिया गया है। किन्तु समाज के भय से, संसार के कहने-सुनने के भय से, बन्धु-बांधवों की घृणा के भय से, अथवा अपने प्रिय कुसंस्कार के नष्ट होने के भय से, यह सब हम दूसरों को न सिखाएँ।'' (वि. सा. 8, पृ. 14)

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म में पनपते पुजारियों के पाखण्ड का डटकर विरोध किया है। उन्होंने पुजारियों के अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए समाज में तरह-तरह के विश्वासों का प्रचार और अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों को बल देने की कटु आलोचना की है। हिन्दू धर्म ही क्या वे किसी भी धर्म में इस प्रकार के पाखण्ड के विरोधी थे। उन्होंने कहा, ''कोई आदमी संसार के सारे सम्प्रदायों में विश्वास करता हो, समस्त धर्मग्रन्थों का ज्ञान वहन करता हो अथवा संसार की सभी पवित्र नदियों में स्नान का पुण्य कमा चुका हो, पर यदि उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है, तो मैं उसे पहले सिरे का नास्तिक मानूँगा।'' (वि. सा. 2, पृ. 234)

स्वामी विवेकानन्द ने भारतवर्ष में मूर्तिपूजा को कोई जघन्य बात नहीं माना है। ''वह व्यभिचार की जननी नहीं है वरन् वह अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है।'' (वि. सा. 1, पृ. 19)

स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण हिन्दू स्त्रियों के विषय में भी उल्लेखनीय है—''हिन्दू स्त्रियाँ बहुत ही आध्यात्मिक और धार्मिक होती हैं। कदाचित् संसार की सभी महिलाओं से अधिक। यदि हम उनकी इन सुन्दर

विशिष्टताओं की रक्षा कर सकें और साथ ही उनका बौद्धिक विकास भी कर सकें, तो भविष्य की हिन्दू नारी संसार की आदर्श नारी होगी।'' (वि. सा. 1, पृ. 324, 325)

स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिमी देशों की यात्रा ही नहीं की, वहाँ के धर्मों का गहन अध्ययन भी किया। उन्होंने संसार के सभी प्रमुख धर्मों की तुलना भारतीय धर्म से की और साथ ही उनके दोषों को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म के विषय में विस्तार से चर्चा करते हुए उन्होंने उनके प्रमुख दोषों की ओर ध्यान आकर्षित किया। पहला यह कि उनमें सबसे बड़ी कमी इस बात की है कि वे ईसा के अतिरिक्त ईश्वर के अन्य अवतारों के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। (वि. सा. 9, पृ. 32) इसी कट्टरता से दूसरा दोष उत्पन्न होता है जिसकी ओर इशारा करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि प्रतिदिन रक्तपात के द्वारा ईसाई राष्ट्र नए देशों पर आधिपत्य जमाने का कार्य करते हैं। (वि. सा. 10, पृ. 273) विवेकानन्द ने ईसाइयों की इस कट्टरता और रक्तपात के द्वारा धर्म के विस्तार की कड़े शब्दों में आलोचना की।

इस्लाम धर्म के बारे में भी विवेकानन्द ने अपने विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। उनकी दृष्टि में, ''जब तक इस्लाम धर्म की लहर भारत में नहीं आई थी तब तक यहाँ के लोग यह जानते तक न थे कि धार्मिक अत्याचार किसे कहते हैं।'' (वि. सा. 1, पृ. 245) इस्लाम धर्म की इस धार्मिक अत्याचार की प्रकृति के बावजूद विवेकानन्द उन्हें प्रगतिशील मानते हैं क्योंकि वे जाति या वर्ण का विचार न करके सबके प्रति समान भाव रखते हैं। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर उन्होंने एक स्थल पर कहा है, ''हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य–हिन्दुत्व और इस्लाम–वेदांती बुद्धि और इस्लामी शरीर–यही एक आशा है। मैं अपने मानस-चक्षु से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।'' (वि. सा. 6, पृ. 405, 406)

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन से प्रभावित थे। इसलिए वे विज्ञान के आलोक में धर्म को देखने का प्रयत्न भी करते हैं। वे दोनों का संबंध बनाते हुए कहते हैं, ''विज्ञान एकत्व की खोज के सिवा और

कुछ नहीं है। ज्योंही कोई विज्ञान पूर्ण एकता तक पहुँच जायेगा, त्योंही उसकी प्रगति रुक जायेगी, क्योंकि तब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। उदाहरणार्थ रसायनशास्त्र यदि एक बार उस एक मूल तत्त्व का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। भौतिकी जब उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगी, अन्य शक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति हैं, तब वह वहीं रुक जायेगी। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, जब वह उसको खोज लेगा, जो इस मृत्यु के इहलोक में एकमात्र जीवन है, जो इस परिवर्तनशील जगत का शाश्वत आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है, अन्य सब आत्माएँ जिसकी प्रतीयमान अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार अनेकता और द्वैत में होते हुए इस परम अद्वैत की प्राप्ति होती है। धर्म इससे आगे नहीं जा सकता। यही समस्त विज्ञानों का चरम लक्ष्य है।'' (वि. सा. 1, पृ. 16) इस प्रकार वे धर्म और विज्ञान का पारस्परिक संबंध जोड़ते हैं। धर्म की रसायनशास्त्र के साथ तुलना करते हुए वे कहते हैं, ''धर्म तात्त्विक (आध्यात्मिक) जगत के सत्यों से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत् के सत्यों से। रसायनशास्त्र पढ़ने के लिए प्रकृति की पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता है। धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तुम्हारी पुस्तक अपनी बुद्धि तथा हृदय है। सन्त लोग भी प्रायः भौतिक विज्ञान से अनभिज्ञ ही रहते हैं। क्योंकि वे एक भिन्न पुस्तक, अर्थात् आन्तरिक पुस्तक पढ़ा करते हैं, और वैज्ञानिक लोग भी प्रायः धर्म के विषय में अनभिज्ञ ही रहते हैं, क्योंकि वे भी भिन्न पुस्तक अर्थात् बाह्य पुस्तक के पढ़ने वाले हैं।'' (वि. सा. 2, पृ. 251)

विवेकानन्द के मतानुसार, ''सभी विज्ञानों की अपनी विशेष पद्धतियाँ होती हैं, धर्म-विज्ञान की भी हैं। उसकी पद्धतियों की संख्या तो और भी अधिक है, क्योंकि उसकी विषय-सामग्री भी अधिक प्रचुर होती है। मानव-बुद्धि बाह्य जगत की भाँति समरूप नहीं है। प्रकृतियों की भिन्नता के अनुसार प्रणालियाँ भी भिन्न होनी चाहिए। जिस प्रकार किसी मनुष्य में कोई एक प्रधान होती है—एक देखता अधिक है, दूसरा सुनता अधिक है, उसी प्रकार कोई प्रधान मानसिक संवेदन भी होता है, और उसी के द्वार से होकर मनुष्य को अपने मन तक पहुँचना आवश्यक है। फिर भी सभी मानसों के आभ्यन्तर में एक प्रकार की एकता विद्यमान रहती है और एक ऐसा भी विज्ञान है,

जिसे सभी पर लागू किया जा सकता है। यह धर्मरूपी विज्ञान जीवात्मा के विश्लेषण पर आधारित है। उसका कोई सम्प्रदाय नहीं है।'' (वि. सा. 2, पृ. 252) इस प्रकार धर्म और विज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। वे दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। धर्म के कुछ अभावों की पूर्ति विज्ञान से होती है।

वास्तव में विवेकानन्द एक ऐसे धर्म के समर्थक थे जिसे मानव धर्म कहकर पुकारा जा सकता है। अतः उनके धर्म संबंधी विचारों को समझने के लिए आवश्यक है कि धर्म के परम्परा से प्रचलित अर्थ को सामने न रखा जाए। उनके लिए मानव जीवन से महत्त्वपूर्ण और कुछ नहीं है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कहा, ''जीवों में मनुष्य ही सर्वोच्च जीव है और यह लोक ही सर्वोच्च लोक है। ईश्वर को मनुष्य की अपेक्षा बड़ा समझकर हम उनकी कल्पना नहीं कर पाते, इसलिए हमारा ईश्वर भी मानव है और मानव भी ईश्वर है।'' (वि. सा. 7, पृ. 40) सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद विवेकानन्द ने पाया कि सभी धर्म अपने मूल अर्थ को छोड़कर बाह्य कर्मकाण्ड और कट्टरता में जा फँसे हैं। इसलिए वे किसी भी धर्म से संतुष्ट नहीं थे। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कहा था, ''मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जो सब प्रकार की मानसिक अवस्था वाले लोगों के लिए उपयोगी हो, इसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे।'' (वि. सा. 3, पृ. 150) अतः विवेकानन्द का धर्म सम्पूर्ण विश्व को साथ लेकर चलने वाला एक ऐसा मानव धर्म है जो किसी भी प्रकार के भेद-भाव को न मानकर सभी स्तर के व्यक्तियों के मानसिक विकास पर बल देता है और उन्हें उच्चतर भूमि पर ले जाकर धर्म के सही रूप से परिचित करवाना चाहता है। इसी परिप्रेक्ष्य में विवेकानन्द के धर्म संबंधी विचारों को जानने-समझने की आवश्यकता है।

चतुर्थ अध्याय

विवेकानन्द का समाज-दर्शन

समाज किसी भी देश का मूलाधार होता है। समाज की मूल चेतना पर ही वहाँ के लोगों का जीवन आधारित होता है। जिन मूल्यों को स्थापित कर दिया जाता है उन्हीं के आधार पर पीढ़ी दर पीढ़ी समाज आगे बढ़ता रहता है। समाज के मूल आधारों में जाति और वर्ण विशेष भूमिका अदा करते हैं। इन्हीं में पनपती बुराइयों के कारण समय-समय पर समाज में सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती है। उस समाज के प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा ही नहीं, समय-समय पर होने वाले महापुरुषों के द्वारा भी इस कार्य को आगे बढ़ाया जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीय समाज के मूल ढाँचे को समझने के बाद इसके बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं। विवेकानन्द का निश्चित मत था कि भारत की मूल चेतना आध्यात्मिक है। अतः उन्होंने जो कुछ भी कहा उसके केन्द्र में यह आध्यात्मिक चेतना बराबर विद्यमान रही है। विवेकानन्द ने पश्चिमी देशों का भ्रमण करके वहाँ की सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, भौतिक समृद्धि बहुत निकट से देखी थी। भारतीय और पश्चिमी चिन्तन के मूल भेद को समझने में उन्हें देर नहीं लगी। अपने समाज की दुर्बलताओं को समझने के बाद उन्होंने अपने विचारों को प्रकट किया है। वे समाज के मूल आधार के रूप में धर्म को स्थापित करना चाहते थे और उनका धर्म वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद को पूर्णतः समाप्त करके सभी लोगों को साथ लेकर आगे बढ़ने में विश्वास करता था। विवेकानन्द का समाज-दर्शन इन्हीं कुछ बिन्दुओं पर आधारित है।

विवेकानन्द की दृष्टि में समाज व्यक्ति के समूह का ही नाम है। धर्म को इसमें स्थापित करते हुए वे कहते हैं, "धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित नीतिशास्त्र का क्षेत्र असीम मनुष्य है। वह व्यक्ति को लेता है, पर उसके संबंध असीम हैं। वह समाज को भी लेता है क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है; इसलिए जिस प्रकार यह नियम व्यक्ति और उसके शाश्वत संबंधों पर लागू होता है, ठीक उसी प्रकार समाज पर भी लागू होता है—समाज की स्थिति या दशा किसी समय-विशेष में जो भी हो। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य को सदैव आध्यात्मिक धर्म की आवश्यकता पड़ती रहेगी। वह हमेशा भौतिक जगत में ही लिप्त नहीं रह सकता, उसे कितना भी आनन्ददायक क्यों न लगे।" (वि. सा. 2, पृ. 197) इस सत्य को प्रकट करते हुए विवेकानन्द समाज के अस्तित्व को उच्चतम स्तर तक ले जाने का एक माध्यम मानते हैं। उनका कहना है, "कभी ऐसा भी समय था जब समाज नहीं था, और ऐसा भी समय आएगा जब यह नहीं रहेगा। यह तो शायद मनुष्य की प्रगति के क्रम में एक ऐसा स्थल है जिससे होकर उसे विकास के उच्चतर स्तरों तक जाना है।" (वही)

विवेकानन्द भारत को झोंपड़ियों में बसा हुआ स्वीकार करते हैं। झोंपड़ियों में बसने वाले लोगों के लिए कभी किसी ने कुछ नहीं किया, इस बात को लेकर उन्हें विशेष कष्ट है। उनका मानना है कि राष्ट्र की भावी उन्नति आम जनता की अवस्था पर निर्भर करती है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए वे कहते हैं, "भारत के शिक्षित समाज से मैं इस बात पर सहमत हूँ कि समाज का आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है।" (वि. सा. 3, पृ. 366) इस परिवर्तन का अर्थ हिन्दू धर्म के विनाश से नहीं है। इस बारे में वे स्पष्ट घोषणा करते हैं, "मेरा यही दावा है कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिए हिन्दू धर्म के विनाश की कोई आवश्यकता नहीं है और यह बात नहीं कि समाज की वर्तमान दशा हिन्दू धर्म की प्राचीन रीति-नीतियों और आचार-अनुष्ठानों के समर्थन के कारण हुई, वरन् ऐसा इसलिए हुआ कि धार्मिक तत्त्वों का सभी सामाजिक विषयों में अच्छी तरह उपयोग नहीं हुआ है।" (वि. सा. 3, पृ. 317) अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "जैसे हमारा धर्म उत्तम, मध्यम और अधम, सभी प्रकार के अधिकारियों को अपने भीतर ग्रहण कर लेता है, वैसे ही हमारे समाज को

भी उच्च-नीच भाव वाले सभी को ले लेना चाहिए। इसका उपाय यह है कि पहले हमें अपने धर्म का यथार्थ तत्त्व समझना होगा और फिर उसे सामाजिक विषयों में लगाना पड़ेगा।" (वि. सा. 3, पृ. 318)

अतः वे समाज-सुधार की आवश्यकता महसूस करते हैं लेकिन साथ ही वे इसके वर्तमान रूप पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहते हैं, "जिसे आप समाज-सुधार कहते हैं, उससे सर्वसाधारण जनता—भारत की कोटि-कोटि जनता का क्या हित होगा? विधवा विवाह, स्त्री स्वातंत्र्य आदि जिन सुधारों के लिए तुम चिल्ला रहे हो, उनकी भारत की बहुसंख्यक जनता को आवश्यकता ही नहीं है, उनमें विधवा विवाह की प्रथा भी है और स्त्रियों को स्वतंत्रता भी प्राप्त है। इसलिए वे इन बातों को सुधार ही नहीं मानते। मेरा तात्पर्य यह है कि यह सब दोष हममें श्रद्धा के अभाव से ही घुस आए हैं, और दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। पर मैं यह चाहता हूँ कि रोग समूल नष्ट किया जाए। रोग के कारण जड़ से नष्ट किए जाएँ, रोग दबाया न जाए, नहीं तो वह फिर बढ़ जाएगा। सुधार अवश्य हो; कौन इतना मूढ़ है जो यह नहीं मानता? उदाहरण के लिए हमें अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना जाति की शारीरिक निर्बलता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है।" (वि. सा. 8, पृ. 270, 271)

समाज-सुधार के साथ-साथ स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि देश में बढ़ रहे मशीनीकरण, जिसे आज हम औद्योगिक क्रांति कहते हैं, पर भी थी। वे इसके दुष्परिणामों से भी भली-भाँति परिचित थे। इसका स्पष्ट संकेत करते हुए वे कहते हैं, "मशीनों से चीज़ें सुलभ और सस्ती होती जा रही हैं, उनसे उन्नति और विकास के मार्ग की बाधाएँ दूर होती जा रही हैं, पर साथ ही एक के धनी होने के लिए लाखों लोग पीसे जा रहे हैं—उधर एक के धनी होने के लिए इधर हज़ारों लोग दरिद्र से दरिद्रतर होते जा रहे हैं, और असंख्य मानव-समूह गुलाम बनाया जा रहा है।...जैसे-जैसे वह उन्नति करता जा रहा है, जैसे-जैसे उसके सुख की सीमा-रेखा विस्तृत होती जा रही है, वैसे-वैसे उसका दुख भी उसी अनुपात में बढ़ता जा रहा है।" (वि. सा. 2, पृ. 51) इस प्रकार वे पूँजीवादी व्यवस्था के मूल स्वभाव को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं। इसी से मुक्ति के लिए वे अध्यात्म की शरण में जाने के लिए कहते हैं।

समाज की इस दुर्दशा के मूल कारण पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं, "मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की उपेक्षा है, और वह भी हमारे पतन का कारण है। हम कितनी ही राजनीति बरतें, उससे उस समय तक कोई लाभ नहीं होगा जब तक कि भारत का जनसमुदाय एक बार फिर सुशिक्षित, सुपोषित और सुपालित नहीं होता। वे हमारी शिक्षा के लिए धन देते हैं, हमारे मंदिर बनाते हैं, और बदले में ठोकरें पाते हैं। वे व्यवहारतः हमारे दास हैं। यदि हम भारत को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, तो हमें उनके लिए काम करना होगा।" (वि. सा. 4, पृ. 261) स्पष्ट है कि विवेकानन्द भारतीय समाज के मूल में जनसाधारण को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और उसे साथ लेकर चले बिना किसी भी प्रकार के समाज-सुधार को व्यर्थ समझते हैं। जन-साधारण से उनका तात्पर्य सभी जातियों, सभी वर्णों के लोगों से है।

विवेकानन्द को समाज-सुधार का प्रचलित ढंग पसंद नहीं था इसलिए उन्होंने समाज-सुधारकों पर कई आक्षेप लगाए। लेकिन वे अपने देश के वास्तविक सुधार के प्रति अत्यंत सम्मान का भाव रखते थे। वस्तुतः वे पाखंडी सुधारकों, पश्चिम की नकल करके बने सुधारकों के विरोधी थे। अपने देश के सच्चे सुधारकों के बारे में उनके विचार इस प्रकार के थे, "क्या भारतवर्ष में कभी सुधारकों का अभाव था? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर और दादू कौन थे? ये सब बड़े-बड़े धर्माचार्य, जो भारत-गगन में अत्यन्त उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह एक के बाद एक उदय हुए और फिर अस्त हो गए, कौन थे? क्या रामानुज के हृदय में नीच जातियों के लिए प्रेम नहीं था? क्या उन्होंने अपने सारे जीवन-भर पैरिया (चाण्डाल) तक को अपने सम्प्रदाय में ले लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने की चेष्टा नहीं की? क्या नानक ने मुसलमान और हिन्दू दोनों को समान भाव से शिक्षा देकर समाज में एक नयी अवस्था लाने का प्रयत्न नहीं किया? इन सबने प्रयत्न किया, और उनका काम आज भी जारी है। भेद केवल इतना है कि वे आज के समाज-सुधारकों की तरह दम्भी नहीं थे; वे इनके समान अपने मुँह से कभी अभिशाप नहीं उगलते थे। उन्होंने लोगों से कहा कि जाति को सतत उन्नतिशील होना चाहिए।" (वि. सा. 5, पृ. 114)

भारतीय समाज के मूल में वर्ण-व्यवस्था स्थित है। विवेकानन्द वर्ण-व्यवस्था को वर्तमान समाज में एक दुर्गन्धयुक्त वस्तु समझते हैं–"वर्ण-व्यवस्था केवल एक सामाजिक विधान ही है, जिसका काम हो चुका, अब तो वह भारतीय वायुमण्डल में दुर्गन्ध फैलाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करती। वह तभी हटेगी, जब लोगों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुनः प्राप्त हो जायेगा।" (वि. सा. 2, पृ. 311) वे मानते थे कि कुछ गुण व्यक्ति में जन्मजात ही न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहते हैं। इसी संदर्भ में वे वर्ण-व्यवस्था की अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं जिसे आज के संदर्भ में तर्कसंगत कहा जा सकता है। उनका कहना है, "जैसे हर एक व्यक्ति में सत्व, रज और तम, तीनों गुण न्यूनाधिक अंश में वर्तमान हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आदि के गुण भी सब मनुष्यों में जन्मजात ही न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। समय-समय पर उनमें से एक न एक गुण अधिक प्रबल होकर, उनके कार्यकलापों में प्रकट होता रहता है। आप मनुष्य का दैनिक जीवनक्रम लें–जब वह अर्थ-प्राप्ति के लिए किसी की सेवा करता है, तो वह शूद्र होता है; जब वह स्वयं अपने लाभ के लिए कोई क्रय-विक्रय करता है, तो उसकी वैश्य संज्ञा हो जाती है; जब वह अन्याय के विरुद्ध अस्त्र उठाता है, तो उसमें क्षात्रभाव सर्वोपरि होता है; और जब वह ईश्वर चिन्तन में लगता है, भगवान् का कीर्तन करता है, तो ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य के लिए एक जाति से दूसरी जाति में चला जाना संभव है। यदि नहीं, तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे बन सके, और परशुराम क्षत्रिय कैसे बन सके?" (वि. सा. 8, पृ. 248, 249) वर्ण-व्यवस्था को दुर्गन्धयुक्त मानते हुए भी विवेकानन्द ने वर्ण-व्यवस्था के बारे में यह भी कहा है–"वर्ण-व्यवस्था ने हमें राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है और यद्यपि इसमें बहुत-से दोष हैं पर उनसे भी अधिक इससे लाभ है।" (वि. सा. 10, पृ. 280) इस प्रकार विवेकानन्द वर्ण-व्यवस्था को उस रूप में नहीं देखते जिस रूप में ये समाज में प्रचलित है और जिसके दुष्परिणामों से सारा समाज त्रस्त है।

वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ विवेकानन्द ने जाति-व्यवस्था पर भी अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। वे मानते हैं कि जातिभेद की उत्पत्ति भारत की राजनैतिक संस्थाओं से हुई है। वे इसे एक सामाजिक प्रथा मात्र मानते

हैं। (वि. सा. 10, पृ. 377) उनका मानना यह भी है कि ये जाति विभाग उन लोगों को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है। (वही, पृ. 391) विवेकानन्द ने जाति का अर्थ बताते हुए कहा है, "जाति का मूल अर्थ था प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति को, अपने विशेष तत्त्व को प्रकाशित करने की स्वाधीनता और यही अर्थ हज़ारों वर्षों तक प्रचलित भी रहा। आधुनिक शास्त्र ग्रन्थों में भी जातियों का आपस में खाना-पीना निषिद्ध नहीं हुआ है; और न किसी प्राचीन ग्रन्थ में उनका आपस में ब्याह-शादी करना मना है। तो फिर भारत के अधःपतन का कारण क्या था—जाति संबंधी इस भाव का त्याग।" (वि. सा. 3, पृ. 367) सम्भवतः इसी जाति के मूल भाव की ओर इशारा करने के लिए विवेकानन्द ने ये कहने में संकोच नहीं किया कि सम्पूर्ण वेद, दर्शन, पुराण और तंत्र में कहीं भी ये बात नहीं है कि आत्मा में लिंग, वर्ण या जातिभेद है। (वि. सा. 2, पृ. 327) वास्तव में विवेकानन्द धर्म को जाति के साथ जोड़कर नहीं देखते। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "जाति का धर्म से कोई संबंध नहीं। किसी भी मनुष्य का व्यवसाय पैतृक होता है। एक बढ़ई बढ़ई के रूप में, एक सुनार सुनार के रूप में, एक श्रमिक श्रमिक के रूप में और एक पुरोहित पुरोहित के रूप में जन्म लेता है।" (वि. सा. 1, पृ. 265) अतः विवेकानन्द का बल जाति को केवल एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में देखने पर था।

विवेकानन्द प्रत्येक जाति का एक जातीय उद्देश्य स्वीकार करते थे। उनका मानना था, "प्रत्येक जाति का एक जातीय उद्देश्य है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार या महापुरुषों की प्रतिभा के बल से प्रत्येक जाति की रीति-नीति उस उद्देश्य को सफल करने के लिए उपयोगी है। प्रत्येक जाति के जीवन में इस उद्देश्य एवं उसके उपयोगी उपाय स्वरूप आचार को छोड़कर और सब रीति-नीति व्यर्थ है। इन व्यर्थ की रीति-नीतियों के ह्रास या वृद्धि से कुछ विशेष बनता-बिगड़ता नहीं। किन्तु, यदि उस प्रधान उद्देश्य पर आघात होता है, तो वह जाति विनष्ट हो जाती है।" (वि. सा. 10, पृ. 58) विवेकानन्द की दृष्टि में राजनीति और सामाजिक स्वाधीनता बहुत अच्छी चीज़ है किन्तु वास्तविक चीज़ आध्यात्मिक स्वाधीनता अर्थात् मुक्ति है। यही जातीय जीवन का उद्देश्य है। (वि. सा. 10, पृ. 59) इसी जातीय विशेषता को खोने के

कारण विवेकानन्द इसके महत्त्व से इनकार करते हैं। वे सभी अनर्थों का कारण इसी जातीय विशेषता को खो देना मानते हैं। (वि. सा. 2, पृ. 338) इसीलिए वे कहते हैं, ''जाति-पाँति का आधुनिक भेदभाव भारत की प्रगति में बाधक है। यह संकीर्ण बनाता है, बाधा डालता है, विलग करता है।'' (वि. सा. 4, पृ. 249) विवेकानन्द की दृष्टि में जातिभाव सबसे अधिक भेद उत्पन्न करने वाला और माया का मूल है। सब प्रकार का जाति-भेद चाहे वह जन्मगत हो या गुणगत, बन्धन ही है। इस बन्धन के होते हुए भी विवेकानन्द ये मानते हैं कि सारी बुराइयों के बावजूद जाति-व्यवस्था को नष्ट नहीं होना चाहिए। उनका कहना है, ''जाति-व्यवस्था का नाश नहीं होना चाहिए; उसे केवल समय-समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। हमारी पुरानी व्यवस्था के भीतर इतनी जीवनी-शक्ति है कि उससे दो लाख नयी व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। जाति-व्यवस्था को मिटाने की बात करना कोरी बुद्धिहीनता है। नयी रीति यह है कि पुरातन का विकास हो।'' (वि. सा. 4, पृ. 54)

विवेकानन्द ने भारत में इस जाति-भेद की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए कहा है, ''जाति-भेद के कारण ही तो आज भी हमारे देश के तीस करोड़ लोगों को खाने के लिए रोटी का एक टुकड़ा मिल रहा है। हाँ, यह सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमें अपूर्णता है। पर यदि यह जाति-विभाग न होता, तो आज आपको एक भी संस्कृत ग्रंथ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा ऐसी मज़बूत दीवालों की सृष्टि हुई थी जो शत बाहरी चढ़ाइयों के बावजूद भी नहीं गिरीं। आज भी वह प्रयोजन मिटा नहीं है, इसीलिए अभी तक जाति-विभाग बना हुआ है। सात सौ वर्ष पहले जाति-विभाग जैसा था, आज वह वैसा नहीं है। उस पर जितने ही आघात होते गये, वह उतना ही दृढ़ होता गया। क्या आप यह नहीं जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है, जो दूसरे राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करने अपनी सीमा से बाहर कभी नहीं गया?'' (वि. सा. 10, पृ. 393) जाति-व्यवस्था के बारे में विवेकानन्द के इन विचारों में परस्पर विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। एक ओर वे जाति-व्यवस्था को प्रगति में बाधक मानते हैं तो दूसरी ओर इसका समर्थन करते भी दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। विवेकानन्द जाति-व्यवस्था

के उत्पीड़नकारी रूप तथा उसके नाम पर किए गए कुत्सित कार्यों के विरोधी थे और सामाजिक व्यवस्था को एक ठोस आधार देने तथा इसे पूर्णता की ओर ले जाने के लिए वे जाति-व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार करते थे। विवेकानन्द के वर्ण-व्यवस्था और जाति-भेद संबंधी विचारों को इसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है।

समाज-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग गृहस्थ जीवन भी है। स्वामी विवेकानन्द गृहस्थ जीवन के दोनों पक्षों पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। उनका मानना है, "एक गृहस्थ का जीवन भी उतना ही श्रेष्ठ है, जितना एक ब्रह्मचारी का, जिसने अपना जीवन धर्मकार्य के लिए उत्सर्ग कर लिया।" (वि. सा. 3, पृ. 16) विवेकानन्द ने गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठा तथा ब्रह्मज्ञान का लाभ लेने का परामर्श दिया है। "उसे निरन्तर अपने सब कर्म करते रहना चाहिए—अपने कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए; और अपने समस्त कर्मों के फलों को ईश्वर के चरणों में अर्पण कर देना चाहिए।" (वि. सा. 3, पृ. 17) विवेकानन्द ने गृहस्थ के लिए कुछ कर्तव्यों का निर्देश भी किया है जिनमें ईमानदारी से जीविकोपार्जन करना, माता-पिता को ईश्वर स्वरूप समझना, परिवार के सभी सदस्यों को भोजन करवाकर स्वयं भोजन करना तथा अपनी स्त्री के प्रति सम्मानजनक व्यवहार उल्लेखनीय हैं। (वि. सा. 3, पृ. 17-19)

विवेकानन्द ने जहाँ गृहस्थ जीवन को इतना महत्त्व दिया है, वहीं वे यह भी स्वीकार करते हैं कि गृहस्थ आश्रम में रहने वाला परहित के लिए कर्म करे, यह असम्भव है। (वि. सा. 6, पृ. 179) गृहस्थ आश्रम में फँसे हुए लोगों के बारे में वे कहते हैं, "जो गृहस्थाश्रम में बँधे रहते हैं, वे स्वयं यह सिद्ध करते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार की कामना के दास बनकर ही संसार में फँसे हुए हैं। यदि ऐसा न होगा तो फिर संसार में रहेंगे ही क्यों? कोई कामिनी के दास हैं, कोई अर्थ के; कोई मान, यश, विद्या अथवा पाण्डित्य के। इस दायित्व को छोड़कर बाहर निकलने से ही वे मुक्ति के पथ पर चल सकते हैं। लोग कितना ही क्यों न कहें, पर मैं भली-भाँति समझ गया हूँ कि जब तक मनुष्य इन सबको त्यागकर संन्यास ग्रहण नहीं करता, तब तक किसी भी प्रकार उसके लिए ब्रह्मज्ञान असम्भव है।" (वि. सा. 6, पृ. 62) इस प्रकार विवेकानन्द ने गृहस्थ जीवन के उच्च और सामान्य

रूप पर दृष्टि डाली है और यह स्पष्ट किया है कि सामान्य गृहस्थ जीवन उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता और न ही इसमें सहायक हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने धर्मांधता, रूढ़िवाद, पुरोहितों के अत्याचार और झूठे विश्वासों को दूर करने पर पूरा बल दिया है। पण्डितों की भाँति पुरोहितों के बारे में भी वे अत्यंत कटु हो जाते हैं। वे पुरोहितों को रूढ़िवादी शक्ति के प्रतिनिधि मानते हैं। अतः वे मानते हैं कि सब देशों में पुरोहित ही कट्टरपंथी हैं। बहुत कम पुरोहित ऐसे हैं जो नेता बनकर जनसाधारण को मार्ग दिखाएँ। अधिकांश पुरोहित तो जनसाधारण के इशारों पर भी नाचते हैं और वे जनता के नौकर या गुलाम होते हैं क्योंकि उन्हें अपना लाभ प्रिय होता है। (वि. सा. 3, पृ. 131, 132) अतः विवेकानन्द पुरोहितों को उन्नति में बाधक मानते हैं। इसी को ध्यान में रखकर वे ये कहते हैं, "उन पाखण्डी पुरोहितों को, जो सदैव उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं, ठोकरें मारकर निकाल दो, क्योंकि उनका सुधार कभी न होगा, उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। उनकी उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों के अन्धविश्वासों और अत्याचारों के फलस्वरूप हुई है। पहले पुरोहिती पाखंड को जड़-मूल से निकाल फेंको।" (वि. सा. 1, पृ. 399)

इस प्रकार विवेकानन्द के समाज-दर्शन का मूलाधार आध्यात्मिकता है। वे वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद को पारम्परिक अर्थों में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। अंतर्जातीय विवाह और गृहस्थों के श्रेष्ठ जीवन पर बल देते हुए वे पाखण्डी समाज-सुधारकों, पुरोहितों की कड़ी आलोचना करते हैं। उनका समाज अध्यात्म दृष्टि से उन्नति करने वाला समाज है। वह देश के पिछड़े हुए वर्गों, जिनमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं, को आगे बढ़ाए बिना इसकी उन्नति की कामना भी नहीं कर सकते। निःसंदेह सभी व्यक्तियों के भीतर आध्यात्मिक उन्नति उनका मूल ध्येय है।

पाँचवाँ अध्याय

राष्ट्रवाद की अवधारणा और विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द के विचारों में राष्ट्रवादी चिन्तन स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। उनके इस राष्ट्रवादी चिन्तन की बुनियाद में उनकी आध्यात्मिक विचारधारा है। राष्ट्रवाद का आधार अध्यात्म होने के कारण उन्हें भारत में धार्मिक और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का जनक माना जा सकता है। विवेकानन्द के सभी विचारों की मूल धुरी वेदांत है। अतः उनके सभी विचार धर्म से ही उद्भूत होते हैं। अतः राष्ट्र संबंधी उनके सभी विचारों के मूल में यही धार्मिक, मानवतावादी विचारधारा देखने को मिलती है। विवेकानन्द राष्ट्रभक्त तो थे, वे देश को स्वतंत्र बनाना भी चाहते थे। लेकिन उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा नहीं लिया। वे मूलतः संन्यासी थे। अतः उन्होंने स्वयं को राजनीति, स्वतंत्रता संग्राम से नहीं जोड़ा। इतना होते हुए भी वे पूरी शक्ति से ग़रीबों और दलितों की सेवा में स्वयं को लगाकर राष्ट्र-सेवा का कार्य ही करना चाहते थे।

विवेकानन्द का विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्त्व, आदर्श को अभिव्यक्त करने वाला होता है। इस संदर्भ में वे राष्ट्र की परिभाषा देते हुए कहते हैं, "प्रत्येक राष्ट्र में पुरुष या स्त्री किसी एक आदर्श को व्यक्त करते हैं, जिसकी पूर्ति ज्ञात या अज्ञात भाव से होती रहती है। व्यक्ति-विशेष अभिप्रेत अर्थ का बाह्य रूप मात्र है। ऐसे व्यक्तियों के समूह को राष्ट्र कहते हैं; और ऐसा राष्ट्र भी किसी महान आदर्श का प्रतीक होता है, जिसकी ओर वह बढ़ताः रहता है। इसलिए यह कहना बिलकुल ठीक है कि किसी राष्ट्र को समझने के लिए पहले उसके आदर्श

को समझना आवश्यक है, कोई राष्ट्र अपना आदर्श छोड़कर किसी दूसरे आदर्श से जाँचा जाना स्वीकार नहीं करता।" (वि. सा. 1, पृ. 308) विवेकानन्द इस आदर्श की बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "प्रत्येक राष्ट्र का, जैसा कि संगीत में होता है, एक मुख्य स्वर होता है, एक केन्द्रीय विषय-वस्तु होती है, जिस पर अन्य सब बातें घूमती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है, अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता धर्म है। समाज-सुधार और अन्य सब बातें गौण हैं।" (वि. सा. 4, पृ. 250) स्पष्ट है विवेकानन्द भारत की मूल धुरी, आदर्श, मूल तत्त्व धर्म को मानते हैं। ऐसा मानते समय वे इस बात के प्रति पूर्णतः सचेत हैं कि धर्म के वर्तमान स्वरूप में इतने दोष हैं कि कोई भी व्यक्ति इसका ग़लत अर्थ लगा सकता है। अतः वे अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "प्रत्येक देश में बुराइयाँ धर्म के कारण नहीं, बल्कि धर्म को न मानने के कारण ही विद्यमान हैं। अतः धर्म के कारण नहीं, दोष मनुष्यों का है।" (वि. सा. 2, पृ. 338) इसलिए विवेकानन्द भारत के भविष्य को ध्यान में रखते हुए धार्मिक एकता पर बल देते हैं। उनके शब्दों में, "भविष्य के भारत निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिसे युगों के उस महाचल पर खोदकर बनाना होगा, भारत की यह धार्मिक एकता ही है।" (वि. सा. 5, पृ. 181)

विवेकानन्द की दृष्टि में, "विश्वविद्यालय की उपाधि लेने वाले कुछ हज़ार व्यक्तियों से राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता, कुछ धनवानों से राष्ट्र नहीं बनता।" (वि. सा. 3, पृ. 330) वे इस बात के प्रति भी सचेत हैं कि किसी राष्ट्र के धनी और शक्तिशाली होने का क्या अर्थ है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, "अगर कोई राष्ट्र धनी और शक्तिशाली बन जाता है, तो इसका अर्थ है कि कहीं किसी राष्ट्र को क्षति पहुँची ही होगी।" (वि. सा. 2, पृ. 266) विवेकानन्द के इन विचारों को यदि आज के संदर्भ में देखें तो अमरीका की वास्तविकता सामने आ जाती है। अपने धनी और शक्तिशाली होने के घमण्ड में उसने कितने राष्ट्रों को हानि पहुँचाई है, यह सत्य इक्कीसवीं शताब्दी के किसी भी राष्ट्र से छिपा नहीं है। सम्भवतः इसीलिए उनका इस बात पर बल था कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। दूसरों की सहायता की आशा रखने पर आत्मविश्वास के साथ-साथ राष्ट्र की भी हानि होगी। (वि. सा. 3, पृ. 370)

विवेकानन्द ने भारत में राष्ट्रीय भावना के पतन का मुख्य कारण कूपमंडूकता को माना है। उनका कहना है, "मेरे विचार से हमारे राष्ट्रीय पतन का असली कारण यह है कि हम दूसरे राष्ट्रों से नहीं मिलते-जुलते, यही अकेला और एकमात्र कारण है। हमें कभी दूसरों के अनुभवों के साथ अपने अनुभवों का मिलान करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। हम कूपमंडूक—कुएँ के मेंढक बने रहे।" (वि. सा. 4, पृ. 258-259) विवेकानन्द इस प्रकार खुली आँखों और खुले दिमाग के साथ दूसरे राष्ट्रों से संवाद करने पर बल देते हैं। इक्कीसवीं शताब्दी तक आते-आते भारत ने जो उन्नति की है उसके मूल में दूसरे राष्ट्रों से संवाद करने की यही नीति कार्य करती दिखाई पड़ती है। विवेकानन्द इसी बात के पक्ष में थे।

राष्ट्रीय पतन के एक और कारण पर प्रकाश डालते हुए विवेकानन्द ने कहा है, "मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की उपेक्षा है, और वह भी हमारे पतन का एक कारण है। हम कितनी ही राजनीति बरतें उससे उस समय तक कोई लाभ नहीं होगा जब तक कि भारत का जनसमुदाय एक बार फिर सुशिक्षित, सुपोषित और सुपालित नहीं होता। वे हमारी शिक्षा के लिए धन देते हैं, हमारे मंदिर बनाते हैं, और बदले में ठोकरें पाते हैं। वे व्यवहारतः हमारे दास हैं। यदि हम भारत को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, तो हमें उनके लिए काम करना होगा।" (वि. सा. 4, पृ. 260-261) जनसमुदाय के प्रति विवेकानन्द की ये भावना धर्म के समान ही उनके विचारों की मूल धुरी है जिसकी उपेक्षा करके उन्हें नहीं समझा जा सकता। विवेकानन्द की दृष्टि में मूलतः राष्ट्र जनसमुदाय से ही अर्थ प्राप्त करता है। वे स्पष्टतः कहते हैं, "याद रखो कि राष्ट्र झोंपड़ी में बसा हुआ है; परन्तु शोक! उन लोगों के लिए कभी किसी ने कुछ किया नहीं। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति उसकी विधवाओं को मिले पति की संख्या पर निर्भर नहीं, वरन् 'आम जनता की अवस्था' पर निर्भर है।" (वि. सा. 2, पृ. 321)

अपने देश के इस जनसमुदाय की दरिद्रता और अज्ञान के कारण विवेकानन्द स्वयं को दुखी अनुभव करते हैं। एक पत्र में उन्होंने अपनी इस भावना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, "देश के दारिद्र्य और अज्ञानता

को देखकर मुझे नींद नहीं आती।...वे ग़रीब लोग जानवरों जैसा जो जीवन बिता रहे हैं, उसका कारण अज्ञान है। पाजियों (यहाँ अभिप्राय ब्राह्मणों से है—सं.) ने चारों युगों में उनका खून चूस-चूसकर पिया है और उन्हें पैरों तले कुचला है।" (वही, पृ. 338)

विवेकानन्द अपने देश की वर्तमान स्थिति के मूल कारण को पहचानते थे। वे भारत के अतीत से, उसकी वैचारिक शक्ति से भली-भाँति परिचित थे। इतिहास का अवलोकन करके उन्होंने पाया कि वस्तुतः भारतवासी शेर हैं। "हम लोग भेड़ों के स्वभाव का आवरण धारण किए हुए सिंह हैं। हम लोग अपने आस-पास के आवरण के द्वारा सम्मोहित कर शक्तिहीन बना दिए गए हैं।" (वही, पृ. 261) इसी शक्तिहीनता के कारण विवेकानन्द को लगता है कि भारतवासी हज़ारों वर्षों से गुलाम चले आ रहे हैं और इस शक्तिहीनता का कारण वे आत्मविश्वास की कमी मानते हैं। राष्ट्र के पतन का यह भी एक मुख्य कारण है। अपने विशिष्ट लहजे में वे इस बात को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, "हम तेतीस करोड़ भारतवासी हज़ारों वर्ष से मुट्ठी-भर विदेशियों के द्वारा शासित और पददलित क्यों हैं? इसका यही कारण है कि हमारे ऊपर शासन करने वालों में अपने आप पर श्रद्धा थी, पर हममें वह बात नहीं थी। मैंने पाश्चात्य देशों में जाकर क्या सीखा? ईसाई धर्म सम्प्रदायों के इन निरर्थक कथनों के पीछे कि मनुष्य पापी था और सदा से निरुपाय पापी था—मैंने उनकी राष्ट्रीय उन्नति का कारण क्या देखा? देखा कि अमेरिका और यूरोप दोनों के राष्ट्रीय हृदय के अन्तरतम प्रदेश में महान् आत्मश्रद्धा भरी हुई है। एक अंग्रेज़ बालक तुमसे कह सकता है, 'मैं अंग्रेज़ हूँ, मैं सब-कुछ कर सकता हूँ।' एक अमेरिकन या यूरोपियन बालक इसी तरह की बात बड़े दावे के साथ कह सकता है। हमारे भारतवर्ष के बच्चे क्या इस तरह की बात नहीं कह सकते? हमने अपनी आत्मश्रद्धा खो दी है। इसीलिए वेदान्त के अद्वैतवाद के भावों का प्रचार करने की आवश्यकता है।" (वि. सा. 5, पृ. 86-87)

इस दृष्टि से वे स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि भारतीयों में जब तक आत्म-सम्मान की भावना नहीं ज़ागती तब तक देश का उद्धार संभव नहीं। उनका कहना है, "जब तक देश में आत्म-सम्मान की भावना उत्कटता से नहीं जगाते और अपने आपको सही तौर पर नहीं उठाते, तब तक हक़

और अधिकार प्राप्त करने की आशा केवल अलनस्कर (शेखचिल्ली) के दिवास्वप्न की तरह रहेगी।'' (वि. सा. 10, पृ. 223-224) आत्मविश्वास की इस भावना को वह अवश्यंभावी मानते हैं। उनका कहना था कि मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद है वह केवल आत्मविश्वास की उपस्थिति तथा अभाव के कारण ही है, यह सरलता से ही समझ में आ सकता है। इस आत्मविश्वास के द्वारा सब-कुछ हो सकता है। विवेकानन्द ने आत्मविश्वास के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है, ''प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है।'' (वि. सा. 8, पृ. 12) अतः इस आत्मविश्वास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति इस सत्य से परिचित हो। इसलिए विवेकानन्द कहते हैं कि पहले अपने में व्यक्ति अन्तर्निहित आत्म-शक्ति को जाग्रत करे और फिर देश के समस्त व्यक्तियों में जितना संभव हो, उस शक्ति के प्रति विश्वास जमाए। (वि. सा. 6, पृ. 156)

विवेकानन्द का सबसे अधिक बल इसी आत्मविश्वास पर है। वे मानते हैं, ''संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्मविश्वास था। यह विश्वास अन्तःस्थित देवत्व को ललकारकर प्रकट कर देता है। तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है, सर्व समर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है जब तुम अन्तस्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने का यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्मविश्वास खो देता है, उसी क्षण उसकी मृत्यु आ जाती है।'' (वि. सा. 9, पृ. 195)

आत्मविश्वास के साथ-साथ विवेकानन्द ने स्वाधीनता पर भी बल दिया है। उनका मानना था कि इसके बिना किसी प्रकार की उन्नति संभव नहीं है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में हमें स्वाधीनता दी थी जिसके परिणामस्वरूप हमें एक आश्चर्यजनक धर्म मिला। अतः उन्नति के लिए वे इसे सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं, ''उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता। जैसे मनुष्य को सोचने-विचारने और उसे व्यक्त करने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए, वैसे ही उसे खान-पान, पोशाक-पहनावा, विवाह-शादी, हरेक बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए, जब तक कि वह दूसरों को हानि न पहुँचाये।'' (वि. सा. 3, पृ. 333) विवेकानन्द का मानना था कि जीवन स्वतंत्रता का एक उत्कट आग्रह है।

नियमों के आधिक्य का अर्थ है मृत्यु। वे यह बात भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो कि अंग्रेज़ों ने तुम्हें सब अधिकार दे दिए, पर उससे क्या फल होगा? कोई न कोई वर्ग प्रबल होकर सब लोगों से सारे अधिकार छीन लेगा और उन लोगों को दबाने की कोशिश करेगा। और गुलाम तो शक्ति चाहता है, दूसरों को गुलाम बनाने के लिए।" (वि. सा. 3, पृ. 334) विवेकानन्द का यह कथन कितना सत्य निकला है इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इक्कीसवीं शताब्दी में खड़े होकर भारत की वर्तमान स्थिति को देखते हुए, इस त्रासदी को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। विवेकानन्द आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण भारत की स्वतंत्रता धीरे-धीरे लाने के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि स्वतंत्रता की यह अवस्था अपने धर्म पर अधिक बल देते हुए और समाज को स्वाधीनता देते हुए लानी होगी।

विवेकानन्द मूलतः एक संन्यासी और धर्मोपदेशक हैं लेकिन उनके सभी विचारों के मूल में भारत की दबी-कुचली जनता थी। अपने उपदेशों, लेखों और पत्रों के द्वारा वे जनता की दशा सुधारने पर ही बल देते हैं। इसी बात को केन्द्र में रखकर वे कहते हैं, "भारत के दीन-हीन लोगों को, इन पददलित जाति के लोगों को, उनका अपना वास्तविक रूप समझा देना परमावश्यक है। जात-पाँत का भेद छोड़कर, कमज़ोर और मज़बूत का विचार छोड़कर, हर एक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को, यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-ग़रीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है; इसलिए सभी लोग महान तथा सभी लोग साधु हो सकते हैं।" (वि. सा. 5, पृ. 89) विवेकानन्द का जनसाधारण के प्रति प्रेम इन शब्दों में भी अभिव्यक्त हुआ है, "यह मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, यही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूज्य हैं हमारे अपने देशवासी। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष करने और झगड़ने के बजाय हमें उनकी पूजा करनी चाहिए।" (वि. सा. 5, पृ. 194) इसलिए विवेकानन्द भारत को जगाने की बात करते हैं। "भारत को उठाना होगा, ग़रीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों का निराकरण करना होगा।

पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे।" (वि. सा. 3, पृ. 334) विवेकानन्द का मानना है कि "यदि हतश्री, अभागे, निर्बुद्धि, पददलित, चिरबुभुक्षित, झगड़ालू अैर ईर्ष्यालु भारतवासियों को भी कोई हृदय से प्यार करने लगे तो भारत पुनः जाग्रत हो जायेगा। भारत तभी जागेगा जब विशाल हृदय वाले सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और शरीर से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर में निरन्तर नीचे डूबते जा रहे हैं।" (वि. सा. 6, पृ. 307)

विवेकानन्द का यह राष्ट्र-प्रेम केवल कथनों तक और उपदेशों तक ही सीमित नहीं था, वे स्वयं भी एक सच्चे राष्ट्रवादी थे। उनके जीवन के पृष्ठ पलटने पर यह बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि उनके हृदय में अपने देश के प्रति कितना प्रेम था और अपनी क्षमता भर उन्होंने इसके लिए कितना कुछ किया। उनका विदेश जाने का मूल कारण अपने ग़रीब देश के लिए विदेशों से धन लाना ही था और भारत की दकियानूसी छवि को परिवर्तित करके एक सम्मानजनक स्थान दिलाना था। उनके जीवन के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे उनका दीन-दुखियों के प्रति सेवाभाव दृष्टिगोचर होता है। अपने देश के प्रति वे कहते हैं, "मेरे जीवन की निष्ठा तो मेरी इस मातृभूमि के प्रति अर्पित है। और यदि मुझे हज़ार जीवन भी प्राप्त हों, तो प्रत्येक जीवन का प्रत्येक क्षण मेरे देशवासियो, मेरे मित्रो तुम्हारी सेवा में अर्पित रहेगा। क्योंकि मेरा जो कुछ भी है—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—सबका सब इसी देश की देन है।" (वि. सा. 9, पृ. 297) इस संदर्भ में दो घटनाओं का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। एक दिन प्रसिद्ध संपादक सखाराम गणेश देउस्कर अपने दो मित्रों के साथ स्वामीजी से बातचीत करने के लिए आए। इनमें से एक मित्र पंजाब से थे और उन दिनों पंजाब में अन्न का अभाव चल रहा था। विवेकानन्द इसी संदर्भ में उनसे बातचीत करने लगे। "इसी प्रकार की और भी बातचीत के पश्चात विदा लेते समय उन पंजाबी सज्जन ने अत्यंत विनयपूर्वक अपनी निराशा व्यक्त करते हुए कहा, 'महाराज, हम बड़ी आशा लेकर आपके पास आए थे कि आपसे धर्मविषयक उपदेश सुनेंगे, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारी

बातचीत अत्यन्त साधारण विषयों तक ही सीमित रह गई। आज का दिन व्यर्थ ही गया!' स्वामीजी तुरन्त ही गम्भीर हो गए और बोले, 'महाशय, जब तक मेरे देश का एक कुत्ता भी भूख से पीड़ित होगा, तब तक उसे खिलाना तथा उसकी देखभाल करना ही मेरा धर्म है, बाकी सब-कुछ या तो अधर्म है अथवा मिथ्या धर्म!' स्वामीजी की बातें सुन तथा उनके चेहरे का भाव देख तीनों आगन्तुक अत्यन्त विस्मित हुए थे।'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, तृतीय खण्ड, पृ. 166) इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख इसी पुस्तक में हुआ है। जब एक पंडितजी वेदान्त चर्चा करने के लिए उनके पास आए तब स्वामीजी ने इसी प्रकार का उत्तर भी दे दिया था। इन उदाहरणों से स्वामीजी की देश के प्रति, ग़रीबों के प्रति उनकी सेवा भावना और समर्पण भावना का पूरा पता चलता है। देश-प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण उस समय भी देखने को मिलता है जब अलमोड़ा में एक अंग्रेज़ महिला जो कि हिन्दू धर्म की प्रचारिका के रूप में अपना परिचय दिया करती थी और स्वामीजी पहले उसकी आलोचना भी कर चुके थे, जब स्वामीजी से नाराज़गी का कारण पूछने आई तो उन्होंने उत्तर दिया, ''तुम अंग्रेज़ लोगों ने हमारे देश पर कब्ज़ा कर लिया है, तुम लोगों ने हमारी स्वाधीनता छीन ली है और हमारे अपने घर में ही हमें गुलाम बना रखा है, तुम लोग हमारे देश की धन-सम्पदा लूटकर ले जा रहे हो। इतने से भी सन्तुष्ट न होकर, हमारा जो बचा हुआ सहारा हमारा धर्म है, उसे भी लेकर तुम लोग हमारे धर्मगुरु बनना चाहते हो!'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, तृतीय खण्ड, पृ. 209) ये विवेकानन्द की राष्ट्रवादी चेतना के ज्वलंत उदाहरण हैं।

विवेकानन्द भारत को माता के रूप में देखते थे। उनके राष्ट्र-प्रेम का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? विवेकानन्द का इस संदर्भ में कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है–''आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश भी हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ

के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं।'' (वि. सा. 5, पृ. 193) यहाँ विवेकानन्द ने जिन्हें देवता कहा है वह भारत की निर्धन, पददलित जनता ही है। इनके प्रति विवेकानन्द का समर्पण-भाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विदेश जाने से पहले आबू पर्वत पर अपने गुरुभाइयों से कहा था, ''मैंने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया है और सम्प्रति महाराष्ट्र तथा पश्चिमी घाट घूम आया हूँ। परन्तु हाय, अपनी आँखों से मैंने देशवासियों की जो दुर्दशा देखी है, उससे आँसू रोक नहीं पा रहा हूँ। अब मैंने भलीभाँति समझ लिया है कि देश की यह हीनता एवं निर्धनता दूर किये बिना धर्मप्रचार का प्रयास बिलकुल बेकार है।'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, तृतीय खण्ड, पृ. 8)

अपनी मृत्यु के कुछ ही महीने पूर्व उनका ये संवाद अपने शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को कहा गया था जो उनकी करुणा और पीड़ा को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है। ''देश के लोग दो वक़्त दो दाने खाने को नहीं पाते, यह देखकर कभी-कभी मन में आता है—छोड़ दे शंख बजाना, घण्टी हिलाना, छोड़ दे लिखना-पढ़ना और स्वयं मुक्त होने की चेष्टा—हम सब मिलकर गाँव-गाँव में घूमकर चरित्र और साधना के बल पर धनिकों को समझाकर, धन संग्रह करके ले आयें और दरिद्र नारायण की सेवा करके जीवन बिता दें।'' (वि. सा. 6, पृ. 215) वे दीन-दुखियों के प्रति पूर्णतः समर्पण भाव रखते थे। अपने मानवतावादी विचारों को वे इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं, ''मुझे ईश्वर पर विश्वास है, साथ ही मनुष्य पर भी। दुखी लोगों की सहायता करने में मैं विश्वास करता हूँ और दूसरों को बचाने के लिए मैं नरक तक जाने को भी तैयार हूँ।'' (वि. सा. 3, पृ. 324) दरअसल उनका आदर्श राष्ट्रीय मार्ग पर समाज की उन्नति, विस्तृति तथा विकास था।

अपने इस राष्ट्र-प्रेम के कारण ही वे भारत के अतीत गौरव की प्रशंसा भी करते हैं। वे भारत भूमि की पवित्रता और विदेशियों द्वारा इसके महत्त्व को स्वीकार करने की बात बार-बार कहते हैं। भारत के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं, ''जिस किसी के भी पैर इस पावन धरती पर पड़ते

हैं वही, चाहे वह विदेशी हो चाहे इसी धरती का पुत्र, यदि उसकी आत्मा जड़-पशुत्व की कोटि तक पतित नहीं हो गयी तो, अपने आपको पृथ्वी के उन सर्वोत्कृष्ट और पावनतम पुत्रों के जीवन्त विचारों से घिरा हुआ अनुभव करता है, जो शताब्दियों से पशुत्व को देवत्व तक पहुँचाने के लिए श्रम करते रहे हैं और जिनके प्रादुर्भाव की खोज करने में इतिहास असमर्थ है। यहाँ की वायु भी आध्यात्मिक स्पंदनों से पूर्ण है। यह धरती दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र और आध्यात्मिकता के लिए, उन सबके लिए जो पशु को बनाये रखने के हेतु चलने वाले अविरत संघर्ष से मनुष्य को विश्राम देता है, उस समस्त शिक्षा-दीक्षा के लिए जिससे मनुष्य पशुता का जामा उतार फेंकता और जन्म-मरणहीन सदानन्द अमर आत्मा के रूप में आविर्भूत होता है—पवित्र है। यह वह धरती है, जिसमें सुख का प्याला परिपूर्ण हो गया था और दुख का प्याला और भी अधिक भर गया था; अंततः यहीं सर्वप्रथम मनुष्य को यह ज्ञान हुआ कि यह तो सब निस्सार है; यहीं सर्वप्रथम यौवन के मध्याह्न में, वैभव-विलास की गोद में, ऐश्वर्य के शिखर पर और शक्ति के प्राचुर्य में मनुष्य ने माया की शृंखलाओं को तोड़ दिया। यहीं, मानवता के इस महासागर में, सुख और दुख, शक्ति और दुर्बलता, वैभव और दैन्य, हर्ष और विषाद, स्मित और आँसू तथा जीवन और मृत्यु के प्रबल तरंगाघातों के बीच, चिरंतन शान्ति और अनुद्विग्नता की घुलनशील लय में, त्याग का राजसिंहासन आविर्भूत हुआ! यहीं इसी देश में जीवन और मृत्यु की, जीवन की तृष्णा की, और जीवन के संरक्षण के निमित्त किये गये मिथ्या और विक्षिप्त संघर्षों की—महान समस्याओं से सर्वप्रथम जूझा गया और उनका समाधान किया गया—ऐसा समाधान जो न भूतो न भविष्यति—क्योंकि यहाँ पर, और केवल यहीं पर इस तथ्य की उपलब्धियाँ हुईं कि जीव भी स्वतः एक अशुभ है, किसी एकमात्र सत् तत्त्व की छाया मात्र। यही वह देश है जहाँ, और केवल जहाँ पर धर्म व्यावहारिक और यथार्थ था; और केवल यहीं पर नर-नारी लक्ष्य-सिद्धि के लिए, परम पुरुषार्थ के लिए साहसपूर्वक कर्मक्षेत्र में कूदे, जैसे अन्य देशों में लोग अपने से दुर्बल अपने ही बंधुओं को लूटकर जीवन के भोगों को प्राप्त करने के लिए विक्षिप्त होकर झपटते हैं। यहाँ और केवल यहीं पर मानव हृदय इतना विस्तीर्ण हुआ कि उसने केवल मनुष्य जाति को ही नहीं, वरन् पशु, पक्षी और वनस्पति तक को

भी अपने में समेट लिया—सर्वोच्च देवताओं से लेकर बालू के कण तक, महानतम और लघुतम सभी को मनुष्य के विशाल और अनन्त वर्द्धित हृदय में स्थान मिला। और केवल यहीं पर मानवात्मा ने इस विश्व का अध्ययन एक अविच्छिन्न एकता के रूप में किया, जिसका हर स्पंदन उसका अपना स्पंदन है।" (वि. सा. 9, पृ. 298-299)

भारत का गौरवगान करते हुए विवेकानन्द इसकी वर्तमान स्थिति से आँख नहीं चुराते। उन्होंने कई स्थानों पर भारत की पतनशील स्थिति का उल्लेख किया है। विवेकानन्द अपने देश की इस तमोगुणी प्रवृत्ति से बेहद दुखी थे। उनके इन शब्दों में उनका दुख, उनका कष्ट देखा जा सकता है, "क्या तुम देखते नहीं कि इस सत्व गुण के बहाने से देश धीरे-धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है? जहाँ महा जड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं; जहाँ जन्म-भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है; जहाँ क्रूर कर्म वाले तपस्यादि का स्वाँग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं; जहाँ अपनी कमज़ोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है; जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ करना ही विद्या है, दूसरों के विचारों को दुहराना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़कर केवल पूर्वजों के नाम-कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है, यह सिद्ध करने के लिए हमको क्या और प्रमाण चाहिए!" (वि. सा. 10, पृ. 136) विवेकानन्द अपने इस तमोगुणी देश को पुनः सत्वगुणी बनाने के लिए इसे बार-बार जगाने की बात करते हैं। वे इस देश को इस स्थिति में लाने के लिए अपने धार्मिक विचारों का आश्रय लेते हैं। उनकी दिली इच्छा थी कि देश को इसकी खोई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त हो।

विवेकानन्द अपने देश की इस खोई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए भारत के लोगों के मानसिक पतन की घोर भर्त्सना करते थे। वे एक सांस्कृतिक चेतना देश में पैदा करना चाहते थे जिसके लिए वह बार-बार अपने देश के लोगों पर तीखा प्रहार करते थे ताकि किसी प्रकार उनकी सोई हुई चेतना जाग्रत हो सके। अपने देश के लोगों की कमज़ोरियों पर प्रहार करते हुए वे इनके दुर्गुणों पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं, "तुम कायरों

की जाति—शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक रूप से। तुम जानवर लोग, जिनके सामने दो ही भाव हैं—काम और काँचन—जैसे हो, तुम्हारे साथ वैसा ही बर्ताव किया जाना चाहिए। तुम 'साहब लोगों' से, यहाँ तक कि मिशनरियों से भी डरते हो। और एक संन्यासी को जीवन-भर लड़ाई में रत, हमेशा रत रहने देना चाहते हो।" (वि. सा. 4, पृ. 282) विवेकानन्द का क्षोभ यहीं तक सीमित नहीं है। वे भारतवासियों की मानसिकता को समझते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, कि भारतवासी "अपना सब-कुछ केवल अपने परिवारों और अपनी सम्पत्ति के लिए ही बलिदान कर देते हैं।" भारतीयों की एक तीसरी दुर्बलता ईर्ष्या पर भी वे अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं, "हमारी ईर्ष्याओं का कहीं अंत नहीं है; और जो हिन्दू जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखता, उसमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी। हम उस समय तक आज की तरह अत्यंत अव्यवस्थित भीड़ बने रहेंगे; हम कोरी आशा करते रहेंगे, कर कुछ भी नहीं सकेंगे।" (वि. सा. 4, पृ. 255)

विवेकानन्द इस सत्य से भी परिचित थे कि वर्तमान भारत में जो बुराइयाँ हैं वो केवल इसी देश का दुर्भाग्य नहीं हैं। इन बुराइयों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए वे कहते हैं, "हमारे समाज में बहुत-सी बुराइयाँ हैं, पर इस तरह की बुराइयाँ तो दूसरे समाजों में भी हैं। यहाँ की भूमि विधवाओं के आँसू से कभी-कभी तर होती है, तो पाश्चात्य देश का वायुमण्डल अविवाहित स्त्रियों की आहों से भरा रहता है। यहाँ का जीवन ग़रीबी की चपेटों से जर्जरित है, तो वहाँ पर लोग विलासिता के विष से जीवन्मृत हो रहे हैं। यहाँ पर लोग इसलिए आत्महत्या करना चाहते हैं कि उनके पास खाने को कुछ नहीं है, तो वहाँ खाद्यान्न (भोग) की प्रचुरता के कारण लोग आत्महत्या करते हैं। बुराइयाँ सभी जगह हैं, यह तो पुराने वात-रोग की तरह है। यदि उसे पैर से हटाओ, तो वह सिर में चला जाता है। वहाँ से हटाने पर वह दूसरी जगह भाग जाता है। बस उसे केवल एक जगह से दूसरी जगह ही भगा सकते हैं। ऐ बच्चो, बुराइयों के निराकरण की चेष्टा करना ही सही उपाय नहीं है। हमारे दर्शनशास्त्रों में लिखा है कि अच्छे और बुरे का नित्य संबंध है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि

तुम्हारे पास एक है, तो दूसरा अवश्य रहेगा। जब समुद्र में एक स्थान पर लहर उठती है तो दूसरे स्थान पर गड्ढा होना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, सारा जीवन ही दोषयुक्त है। बिना किसी की हत्या किये एक साँस तक नहीं ली जा सकती, बिना किसी का भोजन छीने हम एक कौर भी नहीं खा सकते। यह प्रकृति का नियम है, यही दार्शनिक सिद्धान्त है।'' (वि. सा. 5, पृ. 108-109) विवेकानन्द का मानना था कि इन सामाजिक दोषों के निराकरण का कार्य उतना वस्तुनिष्ठ नहीं है जितना आत्मनिष्ठ। इसलिए उनका सबसे अधिक बल व्यक्ति के चरित्रवान होने पर है। व्यक्ति ही समाज की बुराइयों को दूर करने में अपनी शक्ति-भर प्रयत्न कर सकता है। इसीलिए विवेकानन्द सबसे अधिक बल धर्म पर देते हैं और व्यक्ति के ऊँचा, और ऊँचा उठने की बात कहते हैं।

विवेकानन्द की दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—1. सदाचार की शक्ति में विश्वास, 2. ईर्ष्या और संदेह का परित्याग, 3. जो सत् बनने या सत् कर्म करने के लिए यत्नवान हों उनकी सहायता करना। (वि. सा. 2, पृ. 324) ये तीनों बातें व्यक्ति के चरित्रवान और धार्मिक होने पर ही कार्यरूप में परिणत हो सकती हैं और इसी पर विवेकानन्द का सबसे अधिक बल है।

विवेकानन्द प्राचीन भारत में बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता को राष्ट्रीय जीवन का केन्द्रबिन्दु मानते थे। उनकी दृष्टि में विश्लेषणात्मक शक्ति एवं काव्य-दृष्टि की निर्भीकता ही हिन्दू जाति के निर्माण की अन्तर्वर्ती शक्तियाँ हैं जिन्होंने मिलकर राष्ट्रीय चरित्र का मुख्य स्वर ग्रहण किया। (वि. सा. 10, पृ. 117)

विवेकानन्द ने समाजवाद के बारे में भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी दृष्टि में, ''जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता है और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।'' (वि. सा. 7, पृ. 357) वे स्वयं को समाजवादी मानते हुए कहते हैं, ''मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष व्यवस्था समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है। अन्य सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा

होने दो—यदि और किसी कारण से नहीं तो इसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियों को सुख और दुख मिलने की अपेक्षा सुख और दुख का बँटवारा करना अच्छा है।" (वि. सा. 5, पृ. 387) समाजवाद के अनुरूप ही वह भविष्य की व्यवस्था भी देखते हैं। उनका मानना है कि अब शूद्र शासन का युग आ गया है—वे अवश्य राज्य करेंगे और उन्हें कोई नहीं रोक सकता। समाज पर अन्य वर्णों के राज्य करने की बात को विस्तार से वर्णित करते हुए वे कहते हैं, "मानवी समाज पर चारों वर्ण—पुरोहित, सैनिक, व्यापारी और मज़दूर बारी-बारी से शासन करते हैं। हर शासन का अपना गौरव और अपना दोष होता है। जब ब्राह्मण का राज्य होता है, तब अनुवांशिक आधार पर भयंकर पृथकता रहती है—पुरोहित स्वयं और उनके वंशज नाना प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं, उनके अतिरिक्त किसी को कोई ज्ञान नहीं होता, और उनके अतिरिक्त किसी को शिक्षा देने का अधिकार नहीं है। इस विशिष्ट युग में सब विद्याओं की नींव पड़ती है, यह इसका गौरव है। ब्राह्मण मन को उन्नत करते हैं, क्योंकि मन द्वारा ही वे राज्य करते हैं। क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है, परन्तु उनमें पृथकता नहीं रहती और उनके युग में कला और सामाजिक संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है। उसके बाद वैश्य शासन आता है। इसमें कुचलने की और खून चूसने की मौन शक्ति अत्यन्त भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सब जगह जाता है, इसलिए वह पहले दोनों युगों में एकत्र किये हुए विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, परन्तु सभ्यता की अवनति आरम्भ हो जाती है। अन्त में आयेगा मज़दूरों का शासन। उसका लाभ होगा भौतिक सुखों का समान वितरण।" (वि. सा. 5, पृ. 386) इसी सत्य को सामने रखकर वे कहते हैं, "सब बातों से यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद अथवा जनता द्वारा शासन का कोई स्वरूप, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, उभरता आ रहा है। लोग निश्चय ही यह चाहेंगे कि उनकी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति हो, वे कम काम करें, उनका शोषण न हो, युद्ध न हो और भोजन अधिक मिले।" (वि. सा. 4, पृ. 243) इन सब प्रगतिशील विचारों के साथ-साथ विवेकानन्द अपने मूल वैचारिक आधार को साथ में जोड़ना नहीं भूलते, वे एक आध्यात्मिक पुरुष होने के कारण यह कहना

नहीं भूलते, "भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारकों की बाढ़ ला दी जाए।" (वि. सा. 5, पृ. 116)

स्वामी विवेकानन्द के समाजवादी विचारों को सही परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हम स्वामी गम्भीरानन्द के विचारों से सहमत हैं। उनका कहना है, "जिस अर्थ में समाजवाद आज समझा जाता है, स्वामीजी कभी भी उसके सक्रिय पक्षधर नहीं रहे, तथापि जनसाधारण के लिए उनका प्यार और उनकी उन्नति के लिए उनकी आतुरता इतनी तीव्र थी कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु यदि उन्हें कोई बेहतर उपाय न मिलता, तो वे समाजवाद को अपने अर्थों में स्वीकार कर लेते और देखते कि उस समाजवाद के लिए कोई आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत किया जा सकता है या नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वामीजी ने एक राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में समाजवाद को समाज की बुराइयों के लिए रामबाण दवा नहीं बताया। उनका सन्देश तो अध्यात्म का था और समाजवाद मात्र एक समझौता था, यदि उससे बेहतर और कुछ न मिल सकता था।" (स्वामी विदेहात्मानन्द (सं.) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 169)

विवेकानन्द की व्यापक, उदार और यथार्थवादी दृष्टि ने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से पहले ही इस सत्य को जान लिया था कि अब समय ऐसा आ गया है कि सभी राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सीमित दायरे में रहकर नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर करना होगा। उनके शब्दों में, "राजनीति और समाजनीति के क्षेत्रों में जो समस्याएँ बीस वर्ष पहले केवल राष्ट्रीय थीं, इस समय उनकी मीमांसा केवल राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं की जा सकती। उक्त समस्याएँ क्रमशः कठिन हो रही हैं और विशाल आकार धारण कर रही हैं। केवल अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर उदार दृष्टि से विचार करने पर ही उनको हल किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय संघ, अन्तर्राष्ट्रीय विधान, यही आजकल के मूलमंत्र स्वरूप हैं। सब लोगों के भीतर एकत्वभाव किस प्रकार विकसित हो रहा है, यही उसका प्रमाण है। विज्ञान में भी जड़ तत्त्व के संबंध में ऐसे ही सार्वभौम भाव ही इस समय आविष्कृत हो रहे हैं।" (वि. सा. 5, पृ. 136) विवेकानन्द के इन विचारों को आज भली-भाँति समझा जा सकता है। आज भारत ही नहीं सम्पूर्ण

विश्व के देशों को एक-दूसरे की सहायता से अपनी समस्याओं का समाधान ढूँढना पड़ रहा है। विवेकानन्द की विश्वदृष्टि का भी परिचय उनके इन विचारों से मिलता है।

विवेकानन्द के राष्ट्रवादी विचारों का प्रमाण इस बात में भी मिलता है कि उन्होंने इस बात को भली-भाँति समझ लिया था कि भारतीय जनमानस विदेशी प्रभाव को बिना सोचे-समझे ग्रहण कर रहा है। जो यथार्थ आज हमारे सामने है उसकी अभिव्यक्ति विवेकानन्द ने इस प्रकार की है, "हम लोगों में पाश्चात्य जातियों की नकल करने की इच्छा ऐसी प्रबल होती जाती है कि भले-बुरे का निश्चय अब विचार-बुद्धि, शास्त्र या हिताहित ज्ञान से नहीं किया जाता। गोरे लोग जिस भाव और आचार की प्रशंसा करें, वही अच्छा है और वे जिसकी निन्दा करें, वही बुरा! अफसोस! इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और क्या होगा?" (वि. सा. 9, पृ. 226) विवेकानन्द की यह दृष्टि आज भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी है। और भारत के इस अन्धानुकरण ने भारत को आज जिस स्थिति में पहुँचा दिया है उसमें भारतीय संस्कृति नाम की कोई चीज़ शेष नहीं है। पश्चिम की उपभोक्तावादी संस्कृति आज हमारे जीवन का आदर्श बन चुकी है और हम विवेकानन्द की चेतावनी को भूल चुके हैं। उन्होंने कहा था, "मान लो तुम पश्चिम वालों का सम्पूर्ण अनुकरण करने में सफल हो गये, तो उसी समय तुम्हारी मृत्यु अनिवार्य है, फिर तुममें जीवन का लेश भी न रह जायेगा।" (वि. सा. 5, पृ. 69) आज पश्चिम के अंधानुकरण के कारण यह भविष्यवाणी सच होने जा रही है और हमें होश नहीं है क्योंकि हम भारतीयता का जज़्बा खो चुके हैं।

अपने इन विचारों के बावजूद विवेकानन्द राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे मूलतः एक योद्धा संन्यासी थे जो अपने देश को एक सूत्र में बँधा हुआ, उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते देखना चाहते थे। अपने बारे में वे कहते हैं, "मैं न राजनीतिज्ञ हूँ, न राजनीतिक आंदोलन खड़ा करने वालों में से हूँ। मैं केवल आत्मतत्त्व की चिन्ता करता हूँ—जब वह ठीक होगा तो सब काम अपने आप ठीक हो जाएँगे।...इसलिए कलकत्तावासियों को तुम सावधान कर दो कि मेरे लेखों या उपदेशों पर राजनीतिक अर्थ का मिथ्या आरोप न करें।...साधारणतः मैंने ईसाई शासन के विरुद्ध सहज रूप से कुछ

कठोर और खरे वचन अवश्य कहे थे, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मैं राजनीति की परवाह करता हूँ, या मेरा उससे कोई संबंध है या ऐसी और कोई बात है।'' (वि. सा. 3, पृ. 315)

विवेकानन्द के राष्ट्रवाद संबंधी इन स्फुट विचारों का व्यापक प्रभाव बाद के नेताओं में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। गोखले, अरविन्द आदि के विचारों में विवेकानन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उन्होंने राष्ट्रवाद में धार्मिक विचारों का प्रतिपादन इसलिए किया कि वे समझते थे कि आगे चलकर भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदंड धर्म ही बनेगा। वास्तव में विवेकानन्द ने भारत के अतीत गौरव की दुहाई देकर लोगों में देश-भक्ति के भावों को जगाने का प्रयत्न किया। भारतवासियों के अन्दर आत्मविश्वास और आत्मगौरव के भाव उन्होंने धार्मिक विचारों के अनुसार उत्पन्न किए। सुभाषचंद्र बोस विवेकानन्द के धर्म को राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म मानते थे। डॉ. राधाकृष्णन स्वामी विवेकानन्द को 'इस देश के आदर्शों के जीवित रूप' मानते हैं। उनके अनुसार, ''उन्होंने देशभक्ति को एक धर्म के रूप में स्वीकार किया। लेकिन देशभक्ति को उन्होंने संसार में प्रचलित संकुचित अर्थ में ग्रहण नहीं किया वरन् उनकी देशभक्ति का अर्थ था मानव धर्म।'' (डॉ. राधाकृष्णन : हमारी विरासत, पृ. 62-63) के. दामोदरन ने तो यहाँ तक कहा, ''उनके जीवनकाल में अभी मज़दूर वर्ग का न तो कोई आंदोलन था और न संगठन, क्योंकि इस वर्ग का उदय अभी शुरू ही हुआ था। तो भी, एक महान क्रांतिकारी की ओजस्विता से उन्होंने अपनी अंतिम रचनाओं में मज़दूर वर्ग के प्रति अटूट श्रद्धा और आस्था व्यक्त की। उन्होंने अपनी मातृभूमि के लिए एक महान भविष्य की भविष्यवाणी की—केवल स्वतंत्रता में ही नहीं, बल्कि समाजवाद के अंतर्गत भी। इस अद्भुत व्यक्ति ने वास्तव में रूस की समाजवादी क्रांति से भी दो दशक पहले, भारत में समाजवाद का नारा उठाया था। कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे देश की नई पीढ़ी के लिए विवेकानन्द प्रेरणा का एक महान स्रोत बन गये।'' (के. दामोदरन : भारतीय चिंतन परम्परा, पृ. 379) पंडित जवाहरलाल नेहरू की दृष्टि में, ''विवेकानन्द का आधार पुराने ज़माने में था और उनमें हिन्दुस्तान की देन का अभिमान था, लेकिन साथ ही ज़िंदगी के मसलों को हल करने का उनका ढंग इस ज़माने का था और वह हिन्दुस्तान

के गुज़रे हुए और मौजूदा ज़माने की खाई पर एक पुल की तरह थे।'' (जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ. 459)

रामधारीसिंह दिनकर ने विवेकानन्द के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा, ''अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया है। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब के सब समाहित होते हैं।'' (रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 586) दिनकर ने यह भी कहा, ''वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्यरूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गांधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए।'' (वही, पृ. 599)

छठा अध्याय

विवेकानन्द और अद्वैत वेदान्त

विवेकानन्द के समस्त विचारों के मूल में अद्वैत वेदान्त स्थित है। उन्होंने पंडितों और बुद्धिजीवियों के बीच पारिभाषिक दार्शनिक शब्दावली में उलझे वेदान्त को जनसामान्य तक सीधी-सरल शब्दावली में पहुँचाया। उनके स्तर को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। उन्होंने जनसामान्य को एक आत्मविश्वास दिया और उन्हें उनके मूल स्वरूप से परिचित करवाने का प्रयत्न किया। ऐसा करते समय वे वर्तमान वैज्ञानिक युग और तेज़ी से बदलते हुए हालात को दृष्टि से ओझल नहीं करते। अतः उनकी वेदान्त की व्याख्या पारम्परिक होते हुए भी युगानुकूल है। संभवतः इसी बात को दृष्टि में रखते हुए के. दामोदरन ने शंकर अद्वैत और विवेकानन्द के वेदान्त में अन्तर को यूँ व्यक्त किया है, "उनके हाथों में पहुँचने पर शंकराचार्य के अद्वैत में आमूल परिवर्तन हो गया। शंकराचार्य का अद्वैत अपरिवर्तनशील, शाश्वत और अमूर्त था। किन्तु विवेकानन्द के लिए अद्वैत निरन्तर गतिशील और सक्रिय था। उन्होंने घोषणा की : 'गति अथवा परिवर्तन ही जीवन का गीत है।' शंकराचार्य ने एक दार्शनिक के रूप में बुद्ध की भर्त्सना की थी, जबकि विवेकानन्द बुद्ध की उपासना करते थे। शंकराचार्य ने समूचे वेदान्त को अद्वैत की अवधारणा की परिधि में सीमित कर दिया था, और वह दर्शन की अन्य भी प्रणालियों पर आक्रमण करते थे। किन्तु विवेकानन्द ने भारतीय दर्शन और चिन्तन की विविध प्रवृत्तियों का समन्वय करने का पूरी तत्परता से प्रयत्न किया। शंकराचार्य का वेदान्त तात्त्विक चिन्तन की संकीर्ण सीमा के भीतर सिमटा हुआ था, जबकि विवेकानन्द समस्त संसार को अपनी

दृष्टि-परिधि में लेते थे।'' (के. दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 376) स्वयं विवेकानन्द ने शंकराचार्य से अपना विरोध प्रकट करते हुए कहा, ''शंकर की बुद्धि क्षुर-धार के समान तीव्र थी। वे विचारक थे और पण्डित भी; परन्तु उनमें गहरी उदारता नहीं थी और ऐसा अनुमान होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार का था। इसके अतिरिक्त उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था। एक दक्षिणी पुरोहित जैसे ब्राह्मण थे, और क्या? अपने वेदान्त भाष्य में कैसी बहादुरी से समर्थन किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता! उनके विचार की क्या प्रशंसा करूँ! विदुर का उल्लेख कर उन्होंने कहा कि पूर्वजन्म में ब्राह्मण शरीर होने के कारण वह (विदुर) ब्रह्मज्ञ हुए थे। अच्छा, यदि आजकल किसी शूद्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो तो क्या शंकर के मतानुसार कहना होगा कि वह पूर्वजन्म में ब्राह्मण था? क्यों, ब्राह्मणत्व को लेकर ऐसी खींचातानी करने का क्या प्रयोजन? वेद ने तो तीनों वर्णों में प्रत्येक को वेदपाठ और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया है। तो फिर इस विषय में वेद के भाष्य में ऐसे अद्भुत पांडित्य प्रदशित करने का कोई प्रयोजन न था। फिर उनका हृदय देखा, शास्त्रार्थ में पराजित कर कितने बौद्ध श्रमणों को आग में झोंककर मार डाला! इन बौद्ध लोगों की भी कैसी बुद्धि थी कि तर्क में हारकर आग में जल मरे। शंकराचार्य के ये कार्य संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं?'' (वि. सा. 6, पृ. 81-82)

विवेकानन्द के अद्वैत सिद्धान्त को समझने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में वेदान्त क्या है? अद्वैत क्या है? स्वामी विवेकानन्द ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा, ''वेदान्त का अर्थ है वेदों का अंत तीसरा भाग अर्थात् उपनिषद्, जिनमें वे विचार प्रौढ़ रूप में उपस्थित हैं, जो आरम्भिक भाग में अंकुर रूप में वर्तमान थे। वेदों का सबसे प्राचीन भाग संहिता है, जो बहुत पुरानी संस्कृत में है, और वह केवल एक बहुत पुराने कोश, यास्क के निरुक्त की सहायता से समझा जा सकता है।'' (वि. सा. 4, पृ. 244) अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, ''ये वेद दो भागों में विभक्त हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। कर्मकांड में नाना प्रकार के यागयज्ञ और अनुष्ठान-पद्धतियाँ हैं, जिनका अधिकांश आजकल प्रचलित नहीं है। ज्ञानकांड में वेदों के आध्यात्मिक उपदेश लिपिबद्ध हैं—वे उपनिषद् अथवा

'वेदान्त' के नाम से परिचित हैं और द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी समस्त दार्शनिकों और आचार्यों ने उनको ही उच्चतम प्रमाण कहकर स्वीकार किया है।'' (वि. सा. 5, पृ. 124)

भारत में वेदान्त को सभी विचारों के मूल में स्थित माना जाता है। सम्भवतः इसीलिए, ''भारत में प्राचीन काल में भी और आज भी कितने ही विरोधी सम्प्रदायों के रहने पर भी सभी उपनिषद् या वेदान्त रूप एकमात्र प्रमाण पर ही अधिष्ठित हैं। तुम द्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी हो चाहे अद्वैतवादी अथवा चाहे और जिस प्रकार के अद्वैतवादी या द्वैतवादी हो, या तुम अपने को चाहे जिस नाम से पुकारो, तुम्हें अपने शास्त्र उपनिषदों का प्रामाण्य स्वीकार करना ही होगा। यदि भारत का कोई सम्प्रदाय उपनिषदों का प्रामाण्य न माने तो वह 'सनातन' मत का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। और जैनों-बौद्धों के मत भी उपनिषदों का प्रमाण न स्वीकार करने के कारण ही भारतभूमि से हटा दिये गये थे। इसलिए चाहे हम जानें या न जानें, वेदान्त भारत के सब सम्प्रदायों में प्रविष्ट है और हम जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं—यह अनगिनत शाखाओं वाला महान वटवृक्ष के समान हिन्दू धर्म वेदान्त के ही प्रभाव से खड़ा है। चाहे हम जानें चाहे न जानें, परन्तु हम वेदान्त का ही विचार करते हैं, वेदान्त ही हमारा जीवन है, वेदान्त ही हमारी साँस है, मृत्यु तक हम वेदान्त ही के उपासक हैं, और प्रत्येक हिन्दू का यही हाल है। अतः भारत-भूमि में भारतीय श्रोताओं के सामने वेदान्त का प्रचार करना मानो एक असंगति है। परन्तु यदि किसी का प्रचार करना है तो वह इसी वेदान्त का, विशेषतः इस युग में इसका प्रचार अत्यन्त आवश्यक हो गया है।'' (वि. सा. 5, पृ. 216)

वेदान्त को सभी सम्प्रदायों के मूल में स्थित मानने के कारण ही वे भारत के सभी हिन्दुओं को हिन्दू कहकर पुकारने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था, ''वर्तमान समय में समग्र भारत के हिन्दुओं को यदि किसी साधारण नाम से परिचित कराना हो तो उनको 'वेदान्ती' अथवा 'वैदिक' कहना उचित होगा। मैं वेदान्ती धर्म और वेदान्त इन दोनों शब्दों का व्यवहार सदा इसी अभिप्राय से करता हूँ।'' (वि. सा. 5, पृ. 125)

वेदान्त से विवेकानन्द का अभिप्राय भारत के द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद से है। वे इन तीनों को इसी के अन्तर्गत मानते हैं और अपने

व्याख्यानों में इनके पारस्परिक भेद और समानता का वर्णन करते हैं। "कुछ लोग वेदान्त दर्शन की 'अद्वैत' व्याख्या को ही 'वेदान्त' शब्द के समानार्थक रूप में प्रयोग करते हैं। हम सब जानते हैं कि उपनिषदों के आधार पर जिन समस्त विभिन्न दर्शनों की सृष्टि हुई है, अद्वैतवाद उनमें से एक है। अद्वैतवादियों की उपनिषदों के ऊपर जितनी श्रद्धा-भक्ति है, विशिष्टाद्वैतवादियों की भी उतनी ही है और अद्वैतवादी अपने दर्शन को वेदान्त की भित्ति पर प्रतिष्ठित कहकर जितना अपनाते हैं, विशिष्टाद्वैतवादी भी उतना ही। द्वैतवादी और भारतीय अन्यान्य समस्त सम्प्रदाय भी ऐसा ही करते हैं। ऐसा होने पर भी साधारण मनुष्यों के मन में 'वेदान्ती' और 'अद्वैतवादी' समानार्थक हो गये हैं और शायद इसका कुछ कारण भी है।...अद्वैत दार्शनिक शंकराचार्य और उनके मतावलम्बी आचार्यों की व्याख्या में अधिक परिमाण में उपनिषद् प्रमाणस्वरूप उद्धृत हुए हैं। केवल जहाँ ऐसे विषय की व्याख्या का प्रयोजन हुआ, जिसको श्रुति में किसी रूप में पाने की आशा न हो, ऐसे थोड़े-से स्थानों में ही केवल स्मृति-वाक्य उद्धृत हुए हैं। अन्यान्य मतावलम्बी स्मृति के ऊपर ही अधिकाधिक निर्भर रहते हैं, श्रुति का आश्रय कम ही लेते हैं और ज्यों-ज्यों हम द्वैतवादियों की ओर ध्यान देते हैं, हमको विदित होता है कि उनके उद्धृत स्मृति-वाक्यों के अनुपात का परिमाण इतना अधिक है कि वेदान्तियों से इस अनुपात की आशा नहीं की जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके स्मृति-पुराणादि प्रमाणों के ऊपर इतना अधिक निर्भर रहने के कारण अद्वैतवादी ही क्रमशः विशुद्ध वेदान्ती कहे जाने लगे।" (वि. सा. 5, पृ. 125)

विवेकानन्द ने इस अद्वैतवाद के साथ द्वैत का मतभेद स्पष्ट करते हुए कहा कि अद्वैतवादी आत्मा के विकास को नहीं किन्तु प्रकृति के विकास को स्वीकार करते हैं जबकि द्वैतवादी यह मानते हैं कि आत्मा का विकास होता है। उन्होंने विशिष्टाद्वैत को स्पष्ट करते हुए कहा, "असली वेदान्त दर्शन विशिष्टाद्वैत से प्रारम्भ होता है। इस सम्प्रदाय का कहना है कि कार्य कभी कारण से भिन्न नहीं होता। कारण ही परिवर्तित रूप से कार्य बनकर आता है। अगर सृष्टि कार्य है तो ईश्वर ही स्वयं कर्त्ता है और वही स्वयं इसका उपादान भी है, जिससे सम्पूर्ण प्रकृति प्रक्षिप्त हुई है। तुम्हारी भाषा में जो 'क्रिएशन' (creation) शब्द है, वस्तुतः संस्कृत में उसका समानार्थक

शब्द नहीं है, क्योंकि भारत में ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं जो पाश्चात्य लोगों की तरह यह मानता हो कि प्रकृति की स्थापना शून्य से हुई है। हो सकता है कि आरंभ में कुछ लोग ऐसा मानते भी रहे हों, पर शीघ्र ही उन्हें निरुत्तर कर दिया गया होगा। मेरी जानकारी में आज कोई ऐसा संप्रदाय नहीं है जो इस धारणा में विश्वास करता हो। सृष्टि से हम लोगों का तात्पर्य है, किसी ऐसी वस्तु का प्रक्षेपण, जो पहले से ही हो। इस सम्प्रदाय के अनुसार तो सारा विश्व स्वयं ईश्वर ही है। विश्व के लिए वही उपादान है।'' (वि. सा. 2, पृ. 208-209)

अतः विवेकानन्दजी का मानना है कि समग्र धर्म वेदान्त में ही है अर्थात् वेदान्त दर्शन के द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत, इन तीन स्तरों या भूमिकाओं में है और ये एक के बाद एक आते हैं तथा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की क्रम से ये तीन भूमिकाएँ हैं। प्रत्येक भूमिका आवश्यक है। यही सार-रूप से धर्म है। भारत के नाना प्रकार के जातीय आचार-व्यवहारों और धर्म-मतों में वेदान्त के प्रयोग का नाम है 'हिन्दू धर्म'। (वि.सा. 4, पृ. 283) द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत को विकासमान तीन स्तर मानने के बाद विवेकानन्द का यह स्पष्ट मत है कि, ''अब तक विश्व के किसी भी देश में दर्शन एवं धर्म के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है, उसका चरमतम विकास एवं सुन्दरतम पुष्प अद्वैतवाद में है। यहाँ मानव-विचार अपनी अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है और अभेद्य प्रतीत होने वाले रहस्य के ही पार चला जाता है। यह है वेदान्त का अद्वैतवाद। अपनी दुरूहता और अतिशय उत्कृष्टता के कारण यह जनसमुदाय का धर्म नहीं बन पाया। पिछले तीन हज़ार वर्षों से जहाँ इसका एकछत्र शासन रहा है इसके जन्मस्थान उस भारत में भी यह सर्वसाधारण को आग्रहान्वित करने में समर्थ ही रहा।'' (वि. सा. 2, पृ. 210)

अद्वैतवाद को वेदान्त के पर्याय रूप में प्रयोग करते हुए और इसे कठिन, जटिल मानते हुए भी वे इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वेदान्त दर्शन के मूल विचारों को स्पष्ट करने से पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में विवेकानन्द द्वारा अभिव्यक्त इस बात को जान लेना आवश्यक है कि, ''वेदान्त दर्शन के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण विचारों को समझना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि वह उस अर्थ में दर्शन

नहीं है, जिस अर्थ में हम कांट और हेगेल के दर्शन की चर्चा करते हैं। वह न तो एक ग्रन्थ है और न किसी एक व्यक्ति की कृति ही। विभिन्न कालों में लिखित ग्रन्थों की एक श्रेणी का नाम वेदान्त है। कभी-कभी तो इनमें से एक में ही पचासों भिन्न-भिन्न विषय दिखायी देंगे। वे क्रमबद्ध रूप में संकलित भी नहीं हैं; मानो विचारों की टिप्पणियाँ टाँक ली गयी हों। कहीं-कहीं तो बहुत-से अन्य विषयों के बीच में हम कोई अद्भुत विचार पा जाते हैं। पर एक बात उल्लेखनीय है कि उपनिषदों के ये विचार सदा प्रगतिशील पाये जाते हैं। उस पुरानी अनगढ़ भाषा में, प्रत्येक ऋषि के मन की विचार-क्रियाएँ जैसी-जैसी होती गयीं, उसी क्रम से उसी समय मानो चित्रित कर दी गयी हों। पहले तो ये विचार बहुत ही अनगढ़ रहते हैं और तत्पश्चात् क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते हुए अन्त में वेदान्त के लक्ष्य को पहुँच जाते हैं और इस परिणति को दार्शनिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में वह द्युतिमान देवों की खोज रही, फिर विश्व के आदि कारण की खोज की गयी और फिर उसी खोज को सब वस्तुओं के उस एकत्वरूप शोध का अधिक तात्त्विक एवं स्पष्ट स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जिसके ज्ञान से अन्य समस्त वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं।'' (वि. सा. 1, पृ. 253)

अतः विवेकानन्द की दृष्टि में अद्वैत वेदान्त ही अध्यात्म सत्य का सबसे सहज और सरल रूप है। उनकी दृष्टि में वेदान्त सब धर्मों का बौद्धिक सार है। ''वेदान्त के बिना सब धर्म अंधविश्वास हैं; इसके साथ प्रत्येक वस्तु धर्म बन जाती है।'' (वि. सा. 4, पृ. 251) विवेकानन्द का आग्रह नाम पर नहीं है। उनका मानना है, ''चाहे हम उसे वेदान्त कहें या किसी नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है।'' (वि. सा. 6, पृ. 405)

विवेकानन्द वेदान्त दर्शन की नींव अन्तर्जगत में मानते हैं। इसका सम्पूर्ण अनुसंधान अन्तर्जगत में है। वेदान्त दर्शन ये घोषित करता है कि, ''सत्य को किसी धर्मविशेष में मत खोजो, वह तो यहीं, मनुष्य की आत्मा में ही है; यह आत्मा अत्यद्भुत है, समस्त ज्ञान का भण्डार है, सम्पूर्ण सत्त की खान है—इस चित्स्वरूप, सत्स्वरूप आत्मा में ही उस सत्य की खोज करो; जो यहाँ नहीं है, वह वहाँ (बाह्य जगत् में) हो ही नहीं सकता। क्रमशः

उन्होंने यह ढूँढ निकाला कि जो कुछ बाहर है, वह भीतरी वस्तु का, बहुत हुआ तो, एक अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र है।" (वि. सा. 1, पृ. 252)

विवेकानन्द की दृष्टि में वेदान्त के साथ सबसे बड़ी सुविधा यही है कि यह किसी व्यक्ति पर आधारित नहीं रहा है। इसलिए ईसाई, इस्लाम अथवा बौद्ध धर्म की भाँति इनके सिद्धान्तों को धर्माचार्यों की जीवनियों ने अपना ग्रास या आवृत नहीं किया। "वेदान्त में सिद्धान्त ही जीवित हैं और पैगम्बरों के जीवन मानो वेदान्त के लिए अज्ञात हैं और गौण हैं। उपनिषदों में किसी खास पैगम्बर की चर्चा नहीं है, प्रत्युत अनेक स्त्री एवं पुरुष पैगम्बरों की चर्चा है।" (वि. सा. 2, पृ. 241)

"वेदान्त का पहला सिद्धान्त यही है कि आत्मज्ञान ही धर्म है और जिसे उसकी उपलब्धि हो चुकी है, वही धार्मिक है। जब तक इसकी सिद्धि नहीं हो जाती, तब तक कोई व्यक्ति उस व्यक्ति से कदापि अच्छा नहीं, जो कहता है, 'मैं कुछ नहीं जानता'—बल्कि वह उससे भी गया-गुज़रा है, क्योंकि जब कोई यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता, तो उतनी दूर तक वह ईमानदार तो है।" अतः "वेदान्त इस तथ्य को अच्छी तरह से समझता है; इसीलिए यह आत्मज्ञान की विभिन्न विधियों को विश्व के समक्ष रखता है। तुम अपनी इच्छा से चाहे जिस किसी भी विधि को अपनाओ। और अगर वह तुम्हारे अनुकूल न सिद्ध हो, तो किसी दूसरी विधि को अपनाओ। इस दृष्टि से देखने पर लगता है कि यह कितने महत्त्व की बात है कि विश्व में अनेक धर्म उपलब्ध हैं, अनेक धर्माचार्य उपलब्ध हैं।" (वि. सा. 2, पृ. 247-249) अतः वेदान्त विविध साधन-विधियों को मान्यता देता है। वह किसी भी मार्ग से आगे बढ़ सकता है लेकिन वेदान्त का मूल सिद्धान्त यह एकत्व अथवा अखण्ड भाव है। "द्वत्व कहीं नहीं है, दो प्रकार का जीवन अथवा जगत् भी नहीं है। तुम देखोगे कि वेद पहले स्वर्गादि के विषय में कहते हैं, किन्तु अन्त में जब वे अपने दर्शन के उच्चतम आदर्शों पर आते हैं तो वे उन सब बातों को बिलकुल त्याग देते हैं। एकमात्र जीवन है, एक जगत् है, एकमात्र सत् है। सब-कुछ वही एक सत्तामात्र है। भेद केवल परिमाण का है, प्रकार का नहीं। हमारे जीवन में अंतर प्रकारगत नहीं है। वेदान्त इस बात को बिलकुल नहीं मानता कि पशु मनुष्य से पूर्णतया पृथक् हैं और उन्हें ईश्वर ने हमारे भोज्य रूप में बनाया है।" (वि. सा. 8, पृ. 8)

वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के अन्तर में ज्ञान का समस्त भंडार निहित है—एक अबोध शिशु में भी—केवल उसको जाग्रत कर देने की आवश्यकता है, और यही आचार्य का काम है। (वि. सा. 8, पृ. 229) वेदान्त का कहना है, "यह न सोचो कि अच्छा और बुरा दो सम्पूर्ण पृथक् वस्तुएँ हैं। वास्तव में वे एक ही वस्तु हैं। वह एक वस्तु ही भिन्न-भिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न आकार में आविर्भूत हो एक ही व्यक्ति के मन में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न कर रही है।" अतएव वेदान्त का पहला कार्य है—ऊपर से भिन्न प्रतीत होने वाले इस बाह्य ज़गत में एकत्व का पता लगाना। (वि. सा. 2, पृ. 137-138) इसलिए वेदान्त कहता है—"बुराई छोड़ो और भलाई भी छोड़ो। ऐसा होने पर फिर शेष क्या रहा? अच्छे-बुरे के पीछे एक ऐसी वस्तु है, जो वास्तव में तुम्हारी अपनी है, जो वास्तव में तुम्हीं हो, जो सब प्रकार के शुभ और सब प्रकार के अशुभ के अतीत है—और वह वस्तु ही शुभ और अशुभ के रूप में प्रकाशित हो रही है। पहले इसको जान लो, तभी तुम पूर्ण आशावादी हो सकते हो, इसके पूर्व नहीं। ऐसे होने पर ही तुम सब पर विजय प्राप्त कर सकोगे। इन आपात प्रतीयमान व्यक्त भावों को अपने आधीन कर लो, तब तुम उस सत्य वस्तु को अपनी इच्छानुसार व्यक्त कर सकोगे। पर पहले तुम्हें स्वयं अपना ही प्रभु बनना पड़ेगा। उठो, अपने को मुक्त करो, समस्त नियमों के राज्य के बाहर चले जाओ, क्योंकि ये नियम निरपेक्ष रूप से तुम पर शासन नहीं करते, वे तुम्हारी सत्ता के अंश मात्र हैं।" (वि. सा. 2, पृ. 139) इस दृष्टि से वेदान्त दर्शन में शुभ और अशुभ नामक दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। वही एक पदार्थ शुभ और अशुभ, दोनों होता है और उनके बीच की विभिन्नता केवल परिमाणगत है। "अतएव वेदान्त दर्शन आशावादी भी नहीं है और निराशावादी भी नहीं। वह तो दोनों ही वादों का प्रचार करता है, सारी घटनाएँ जिस रूप में होती हैं वह उन्हें बस उसी रूप में ग्रहण करता है। उसके मतानुसार यह संसार शुभ और अशुभ, सुख और दुख का मिश्रण है, एक को बढ़ाओ, तो दूसरा भी साथ-साथ अनिवार्य रूप से बढ़ेगा। केवल सुख का संसार अथवा केवल दुख का संसार हो नहीं सकता। इस प्रकार की धारणा ही स्वतः विरोधी है। किन्तु इस प्रकार का मत व्यक्त करके इस विश्लेषण के द्वारा वेदान्त के इस महान रहस्य का भेद किया है कि शुभ और अशुभ, ये दो एकदम

विभिन्न, पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। इस संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिसे केवल शुभ और शुभ या केवल अशुभ और अशुभ कहा जा सके।" (वि. सा. 2, पृ. 52-53)

विवेकानन्द की दृष्टि में स्वर्ग, नरक, देवता, पुनर्जन्म यहीं हैं—देवताओं का हमीं ने सृजन किया है। वास्तव में "एक ही प्राण सर्वत्र विराजित है। पुनर्जन्म आदि जो कुछ है, सब यहीं होता है। देवतागण सब यहीं हैं। वे मनुष्य के आदर्श के अनुसार कल्पित हैं। देवताओं ने मनुष्यों को अपने आदर्श के अनुसार नहीं बनाया, किन्तु मनुष्यों ने ही देवताओं की सृष्टि की है। इन्द्र, वरुण और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवता सब यहीं हैं। तुम्हीं लोग अपने एक अंश को बाहर प्रक्षिप्त करते हो, किन्तु वास्तव में तुम्हीं असली वस्तु हो—तुम्हीं प्रकृत उपास्य देवता हो। यही वेदान्त का मत है और यही यथार्थ में व्यावहारिक है।" (वि. सा. 8, पृ. 33) स्पष्ट है कि "इस जगत को विश्व के बाहर के किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, संसार के बाहर की किसी प्रतिभा ने इसकी सृष्टि नहीं की। यह आप ही आप सृष्ट हो रहा है, आप ही आप उसकी अभिव्यक्ति हो रही है, आप ही आप उसका प्रलय हो रहा है—एक ही अनन्त सत्ता ब्रह्म है।" (वि. सा. 5, पृ. 313-314)

वास्तव में वेदान्त का यह मूल तत्त्व है कि विश्व में जो कुछ भी नाम-रूप है, वह नश्वर है। "अतएव स्वर्ग भी नश्वर होगा, क्योंकि उसका भी तो नाम-रूप है, अनन्त स्वर्ग स्वविरोधी वाक्य मात्र है, जिस प्रकार यह पृथ्वी अनन्त नहीं हो सकती; क्योंकि जिस वस्तु का भी नाम-रूप है, उसी की उत्पत्ति काल में है, स्थिति काल में है, विनाश काल में है। वेदान्त का यह स्थिर सिद्धान्त है—अतएव अनन्त स्वर्ग की धारणा व्यर्थ है।" (वि. सा. 8, पृ. 25) वास्तव में वेदान्त कहता है कि हमारी आत्मा ही सर्वोच्च स्वर्ग है, मानवात्मा ही पूजा के लिए सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है, वह सभी स्वर्गों से श्रेष्ठ है। कारण, इस आत्मा में उस सत्य का जैसा स्पष्ट अनुभव होता है, वैसा और कहीं भी नहीं होता। अतः "वेदान्त शिक्षा देता है—'जगत् को ब्रह्म स्वरूप देखो।' वेदान्त वास्तव में जगत की भर्त्सना नहीं करता। यह ठीक है कि वेदान्त में जिस प्रकार चूड़ान्त वैराग्य का उपदेश है, उस प्रकार और कहीं भी नहीं है। पर इस वैराग्य का अर्थ शुष्क आत्महत्या नहीं है। वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है, जगत् को ब्रह्म-रूप देखना—जगत् को हम जिस भाव

से देखते हैं, उसे हम जैसा जानते हैं, वह जैसा हमारे सम्मुख प्रतिभास होता है, उसका त्याग करना और उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना। उसे ब्रह्मस्वरूप देखो—वास्तव में वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इसी कारण सबसे प्राचीन उपनिषद् में हम देखते हैं, ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्—जगत् में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से आच्छन्न है।" (वि. सा. 2, पृ. 150) अतएव वेदान्त दर्शन के मत से मनुष्य ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह कर्मभूमि पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसके पूर्णत्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सम्भावना है। देवदूत या देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए मनुष्य-जन्म करना पड़ेगा। ये मानव जीवन का एक महान केन्द्र, अद्भुत स्थिति और अद्भुत अवसर है।

इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होता है कि अद्वैत वेदान्त मनुष्य को मनुष्य की हिंसा करने से रोकता है क्योंकि दूसरों के प्रति की गई हिंसा वास्तव में अपने प्रति की गई हिंसा है। स्वामी विवेकानन्द इस बात को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं, "अद्वैतवाद की शिक्षा से तुम्हें ये ज्ञान होता है कि दूसरों की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करते हो, क्योंकि वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हें मालूम हो या न हो, सब हाथों से तुम्हीं कार्य कर रहे हो, सब पैरों से तुम्हीं चल रहे हो, राजा के रूप में तुम्हीं प्रासाद में सुखों का भोग कर रहे हो, फिर तुम्हीं रास्ते के भिखारी के रूप में अपना दुखमय जीवन बिता रहे हो। अज्ञ में भी तुम हो, विद्वान् में भी तुम हो, दुर्बल में भी तुम हो, सबल में भी तुम हो। इस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हें सबके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। चूँकि दूसरे को कष्ट पहुँचाना अपने को ही कष्ट पहुँचाना है, इसलिए हमें कदापि दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए।" (वि. सा. 5, पृ. 315)

सभी के भीतर ईश्वर की उपस्थिति के कारण ही पति-पत्नी का स्नेह-भाव नया अर्थ ग्रहण करता है। "वेदान्त दर्शन कहता है कि पति-पत्नी के स्नेह-भाव में, यद्यपि पत्नी सोचती है कि वह अपने स्वामी को प्रेम कर रही है, वस्तुतः स्नेह का विषय ईश्वर ही है, जो पति में अवस्थित है। वही एकमेव आकर्षण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई उसका स्नेह-भाजन नहीं है। पत्नी अज्ञानवश नहीं जानती कि अपने पति से स्नेह करने में वह केवल

ईश्वर को ही प्यार कर रही है, और यह अज्ञान ही भविष्य में उसके दुख का कारण बन जाता है। ज्ञानपूर्वक किये जाने पर यही कार्य मुक्ति का मार्ग बन जाता है। यही हमारे शास्त्रों का उपदेश है। जहाँ भी प्रेम है, आनन्द का एक बिन्दु भी वर्तमान है, वहीं ईश्वर वर्तमान है; क्योंकि ईश्वर रसस्वरूप, प्रेमस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। उसके अभाव में प्रेम असम्भव है।" (वि. सा. 7, पृ. 187) अतः वेदान्त प्रमाणित करता है कि इस जगत में जो कुछ आनन्दकारी है, वह उसी प्रकृत आनन्द का अंश मात्र है क्योंकि एकमात्र उस आनन्द का ही वास्तविक आनन्द है। हम प्रति क्षण उसी ब्रह्मानन्द का उपभोग कर रहे हैं, पर वह उसका आच्छन्न, भ्रांत और उपहासास्पद रूप ही होता है।

वेदान्त माया पर भी अपनी दृष्टि से विचार करता है। "वेदान्त माया को समष्टि या सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करता है और उस माया के पीछे ब्रह्मरूपी एक अखण्ड वस्तु की सत्ता स्वीकार करता है।" (वि. सा. 7, पृ. 117) अतएव "वेदान्त हमें पहले इस आपाततः दिखने वाले माया के जगत् का त्याग कर काम करने की शिक्षा देता है। इस त्याग का क्या अर्थ है? पहले ही कहा जा चुका है कि त्याग का प्रकृत अर्थ है—सब जगह ईश्वर-दर्शन। सब जगह ईश्वर-बुद्धि कर लेने पर ही हम वास्तविक कार्य करने में समर्थ होंगे। यदि चाहो, तो सौ वर्ष जीने की इच्छा करो; जितनी भी सांसारिक वासनाएँ हैं, सबका भोग कर लो, पर हाँ, उन सबको ब्रह्ममय देखो, उनको स्वर्गीय भाव में परिणत कर लो। यदि जीना चाहो, तो इस पृथ्वी पर दीर्घ काल तक सेवापूर्ण, आनन्दपूर्ण और क्रियाशील जीवन बिताने की इच्छा करो। इस प्रकार कार्य करने पर तुम्हें वास्तविक मार्ग मिल जायगा। इसको छोड़ अन्य कोई मार्ग नहीं है।" (वि. सा. 2, पृ. 154)

वेदान्त धर्म का सबसे उदात्त तथ्य यह है कि सभी एक ही लक्ष्य की ओर भिन्न-भिन्न मार्गों से पहुँच रहे हैं। स्वयं विवेकानन्द ने चार मार्गों का उल्लेख किया है—कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग, योग मार्ग और ज्ञान मार्ग। इन चारों मार्गों का तिरोभाव दूसरे में हो जाता है। इसी प्रकार वेदान्त दूसरे मार्गों को स्वीकार करता है। "वेदान्त कहता है—दूसरे प्रकार की उपासनाएँ भी भ्रमात्मक नहीं हैं। यह कभी न भूलना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड द्वारा भगवत् उपासना करते हैं—हम इन कर्मों को चाहे कितना

ही अनुपयोगी क्यों न मानें—वे लोग वास्तव में भ्रान्त नहीं हैं; क्योंकि लोग सत्य से सत्यासत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर आगे बढ़ते हैं। अन्धकार कहने से समझना चाहिए स्वल्प प्रकाश; बुरा कहने से समझना चाहिए थोड़ा अच्छा; अपवित्रता कहने से समझना चाहिए स्वल्प पवित्रता। अतएव हमें दूसरों को प्रेम और सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। हम लोग जिस रास्ते पर चल आये हैं, वे भी उसी रास्ते से चल रहे हैं। यदि तुम वास्तव में मुक्त हो, तो तुम्हें अवश्य ही यह समझना चाहिए कि वे भी आगे-पीछे मुक्त होंगे।" (वि. सा. 8, पृ. 35)

अद्वैत वेदान्त सबसे अधिक बल आत्म-विश्वास पर देता है। अद्वैतवाद का यह रहस्य है कि पहले अपने पर विश्वास करो फिर अन्य सब पर। संसार के इतिहास में केवल वही राष्ट्र महान एवं प्रबल हो सके हैं, जो आत्म-विश्वास रखते हैं। हरेक राष्ट्र के इतिहास में यह देखा गया है कि जिन व्यक्तियों ने अपने पर विश्वास किया है वही महान तथा सबल हो सके हैं। सम्भवतः इसीलिए विवेकानन्द ने कहा, "वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिए कहता है। जिस प्रकार संसार का कोई-कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं।" (वि. सा. 6, पृ. 6)

वेदान्त धर्म को वर्तमान में अनुभूत होने वाला विषय मानता है। वेदान्त के अनुसार, "यह जन्म और वह जन्म, जन्म और मरण, इहलोक और परलोक, ये सारी बातें अन्धविश्वास तथा पूर्वधारणाओं पर आधारित हैं। काल के प्रवाह में कभी विराम नहीं होता, हाँ, अपनी धारणाओं से हम भले ही उसमें विराम मान लें। चाहे दस बजा हो या बारह, काल में कोई अन्तर तो नहीं पड़ता। हाँ, प्रकृति में कुछ परिवर्तन भले ही दिख पड़ते हैं। समय का प्रवाह तो अविच्छिन्न रूप से सतत जारी रहता है।...इस तरह वेदान्त का कहना है कि धर्म की अनुभूति तो यहीं हो सकती है। और तुम्हारे धार्मिक होने का अर्थ है कि तुम किसी धर्म की शरण में गए बिना ही आरम्भ करो और अपनी साधना से ही धर्म की अनुभूति करो। जब तुम ऐसा कर सकोगे,

तभी तुम्हारा कोई धर्म होगा। उसके पहले तुम नास्तिक ही नहीं–बल्कि उससे भी बुरे हो–क्योंकि जो नास्तिक है, वह कम से कम सच्चा तो है, वह कहता है, 'मुझे इन सारी चीज़ों का कोई ज्ञान नहीं', जबकि दूसरे लोग ज्ञान न रखते हुए भी संसार-भर में ढिंढोरा पीटते चलते हैं, 'हम बड़े धार्मिक हैं।' उनका धर्म क्या है, यह कोई नहीं जानता। उन लोगों ने तो जैसे कुछ दादी की कहानियों को रट लिया है और पण्डे-पुरोहितों ने उनसे विश्वास करने के लिए कह दिया है, बस अगर कोई उसमें विश्वास नहीं करता, तो उसे तरह-तरह की धमकियाँ दी जाती हैं। ऐसे ही तो सारी चीज़ें दुनिया में चल रही हैं।'' (वि. सा. 2, पृ. 246) वेदान्त धर्म के साक्षात्कार को ही एकमात्र मार्ग मानता है। दूसरे शब्दों में इस साक्षात्कार के लिए व्यक्ति को स्वयं को ही तैयार करना होगा। ''वेदान्त कहता है, दूसरे की सहायता से हमारा कुछ नहीं हो सकता। हम रेशम के कीड़े के समान हैं। अपने ही शरीर से अपने आप जाल बनाकर उसी में आबद्ध हो गये हैं। किन्तु यह बद्धभाव चिरकाल के लिए नहीं है। हम लोग उससे तितली के समान बाहर निकलकर मुक्त हो जायेंगे। हम लोग अपने चारों ओर इस कर्मजाल को लगा देते हैं और अज्ञानवश सोचने लगते हैं कि हम बद्ध हैं और सहायता के लिए रोते-चिल्लाते हैं। किन्तु बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती, सहायता मिलती है भीतर से। दुनिया के सारे देवताओं के पास तुम रो सकते हो, मैं भी बहुत वर्ष इसी तरह रोता रहा, अन्त में देखा कि मुझे सहायता मिल रही है, किन्तु यह सहायता भीतर से मिली।'' (वि. सा. 8, पृ. 61) इस प्रकार भीतरी सहायता के बिना न तो धर्म का साक्षात्कार हो सकता है और न ही वेदान्त के मूल तत्त्व को ही प्राप्त किया जा सकता है।

वेदान्त धर्म के निर्माण के लिए आवश्यक तीनों उपादानों को स्वीकार नहीं करता। धर्म के लिए आवश्यक धर्मग्रन्थ में वेदान्त का कोई विश्वास नहीं है। वेदान्त की सबसे मौलिक कठिनाई यही है कि किसी भी ग्रन्थ पर उसकी आस्था नहीं है। एक ग्रन्थ का दूसरे पर अधिकार उसे मान्य नहीं। धर्म के दूसरे उपादान व्यक्ति-विशेष की आराधना को भी वेदान्त अग्राह्य मानता है। वेदान्त किसी व्यक्ति-विशेष से चिपका नहीं है। कोई भी एक स्त्री या पुरुष वेदान्तियों की आराधना का पात्र नहीं बन सकता।

वेदान्त धर्म की तीसरी आवश्यकता—केवल अपने को ही सत्य मानना—में विश्वास नहीं करता। वह ईश्वर की पुरानी धारणा का प्रतिपादन नहीं करता। वेदान्त वर्तमान सारे धर्मों के, जो कि घोर कट्टरपंथी हैं, दूसरे सम्प्रदायों से घृणा करते हैं, को भी स्वीकार नहीं करता। सम्भवतः इसीलिए वेदान्त पाप नहीं मानता। "भूलें ज़रूर हैं, लेकिन पाप नहीं। कालान्तर में सभी ठीक होने वाला है। कोई शैतान नहीं—ऐसी कोई बकवास नहीं। वेदान्त के अनुसार जिस क्षण तुम अपने को या इतर जन को पापी समझते हो, वही पाप है। इसी से अन्य सब भूलों का या उनका जिन्हें बहुधा पाप की संज्ञा दी जाती है, सूत्रपात होता है। हमारे जीवन में अनेक भूलें हुई हैं। फिर भी आगे हम बढ़ते ही रहे हैं।" (वि. सा. 9, पृ. 81) इस प्रकार वेदान्त पाप और पापी की स्थापना नहीं करता।

वेदान्त की मुख्य दो सीढ़ियाँ हैं। पहली सीढ़ी के अनुसार "द्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा अद्वैत—वेदान्त के जितने भी विभिन्न रूप अथवा विभाग हैं सबका यही प्रथम सिद्धांत है कि ईश्वर इस जगत का केवल निमित्त कारण ही नहीं है, वह इसका उपादान कारण भी है, जो कुछ जगत में है, सब वही है। वेदान्त की दूसरी सीढ़ी यह है कि 'ये जो आत्माएँ हैं, ये भी ईश्वर के अंश-स्वरूप हैं, उसी अनन्त वह्नि के एक-एक स्फुलिंग मात्र अर्थात् जैसे एक बृहत् अग्नि-राशि से सहस्र-सहस्र अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार उस पुरातन पुरुष से ये सब आत्माएँ बहिर्गत हुई हैं।' यहाँ तक तो ठीक हुआ, किन्तु इस सिद्धान्त से भी तृप्ति नहीं होती है। अनन्त का अंश—इन शब्दों का अर्थ क्या है? अनन्त तो अविभाज्य है। अनन्त का कदापि अंश हो नहीं सकता। पूर्ण वस्तु कदापि विभक्त हो नहीं सकती। तो फिर यह जो कहा गया, आत्मासमूह उनसे स्फुलिंग के समान निकले हैं—इन शब्दों का तात्पर्य क्या है? अद्वैत वेदान्ती इस समस्या की इस प्रकार मीमांसा करते हैं कि वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं होता। प्रत्येक आत्मा यथार्थ में ब्रह्म का अंश नहीं है, वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं होता। तब इतनी आत्माएँ किस प्रकार आयीं? लाख-लाख जलकणों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़कर लाख-लाख सूर्य के समान दिखायी पड़ रहा है तथा प्रत्येक जलकण में ही क्षुद्र आकार में सूर्य की मूर्ति विद्यमान है। इसी प्रकार ये सब आत्माएँ प्रतिबिम्ब रूप हैं, सत्य नहीं हैं। ये वह वास्तविक 'मैं' नहीं

हैं, जो इस जगत् का ईश्वर है, ब्रह्माण्ड का अविभक्त सत्तास्वरूप है। अतएव ये सब विभिन्न प्राणी, मनुष्य, पशु इत्यादि सब प्रतिबिम्बरूप हैं, सत्य नहीं हैं। ये प्रकृति के ऊपर प्रक्षिप्त मायामय प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जगत् में अनन्त पुरुष केवल एक है तथा वही पुरुष, 'तुम', 'हम' इत्यादि रूप में प्रतीयमान हो रहा है, किन्तु यह भेद-प्रतीति मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह विभक्त नहीं होता, विभक्त हुआ ऐसा बोध मात्र होता है।" (वि. सा. 8, पृ. 68-69)

वेदान्त के अनुसार चेतना के तीन मूलभूत तथ्य हैं—मैं सत् हूँ, मैं चित् हूँ, और मैं आनन्दस्वरूप हूँ। यह भाव, जो कभी-कभी आता है, कि मुझे कोई अभाव नहीं है; मैं विश्रामपूर्ण, शान्तिपूर्ण हूँ, मुझे कोई भी विचलित नहीं कर सकता, हमारे अस्तित्व का केन्द्रीय तथ्य, हमारे जीवन का आधारभूत तत्त्व है; और जब यह सीमित बन जाता है एवं यौगिक बन जाता है, यह जागतिक अस्तित्व, जागतिक ज्ञान और प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व है, प्रत्येक मनुष्य अवश्य जानता है, और प्रत्येक मनुष्य प्रेम के निमित्त पागल है। मनुष्य प्रेम किये बिना नहीं रह सकता। उच्चतम और निम्नतम सब प्रकार के माध्यम से सब लोग अवश्य प्रेम करते हैं।" (वि. सा. 4, पृ. 215)

इसी प्रकार वेदान्त दर्शन के अनुसार मनुष्य तीन तत्त्वों से बना हुआ है। पहला तत्त्व मनुष्य का शरीर है अर्थात् मनुष्य का स्थूल रूप, जिसमें आँख, नाक, कान आदि संवेदन के साधन हैं। इन इन्द्रियों के पीछे ऐसा 'कुछ' है जिसके बिना वे किसी चीज़ के संवेदन में समर्थ नहीं हो पातीं। वह 'कुछ' मन है। लेकिन मन का इन्द्रियों से संयुक्त हो जाना पर्याप्त नहीं है, इच्छा के रूप में प्रतिक्रिया का होना भी आवश्यक है। वह शक्ति जहाँ से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जो ज्ञान और निश्चय करने की शक्ति है उसे बुद्धि कहते हैं। जब ये सारी बातें पूरी हो जाती हैं, तब तुरन्त 'मैं' और बाह्य वस्तु का विचार तत्काल स्फुरित होता है। "तभी प्रत्यक्ष प्रत्यय और ज्ञान की निष्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रिय जो साधन मात्र है, शरीर का अव्यय है और उसके पीछे ज्ञानेन्द्रिय है जो उससे सूक्ष्मतर है, तब क्रमशः मन, बुद्धि और अहंकार हैं।" (वि. सा. 8, पृ. 84-85) यह सम्पूर्ण प्रक्रिया जिन शक्तियों द्वारा परिचालित होती है उन्हें जीवनी-शक्तियाँ कह सकते

हैं। इन्हें ही 'प्राण' कहा जाता है। अतः मनुष्य का एक 'स्थूल शरीर' है। इसके पीछे मन, बुद्धि और अहंकार का जो सिलसिला है वह 'प्राण' से मिलकर जो यौगिक घटक बनाते हैं उसे 'सूक्ष्म शरीर' कहते हैं। "यद्यपि एक भाग मन, दूसरा बुद्धि तथा तीसरा अहंकार कहा जाता है, पर एक ही दृष्टि में हमें विदित हो जाता है कि इनमें से किसी को भी 'ज्ञाता' नहीं कहा जा सकता है। इनमें से कोई भी प्रत्यक्ष कर्त्ता, साक्षी, कार्य का भोक्ता अथवा क्रिया को देखने वाला नहीं है। मन की ये समस्त गतियाँ, बुद्धि तत्त्व अथवा अहंकार अवश्य ही किसी दूसरे के लिए हैं।...अतः इन सबके पीछे कोई न कोई अवश्य है, जो वास्तविक प्रकाश, वास्तविक दर्शक और वास्तविक उपभोक्ता है जिसे संस्कृत में 'आत्मा' कहते हैं–मनुष्य की आत्मा, मनुष्य का वास्तविक 'स्व'। वस्तुओं का असली देखने वाला यही है।...वह आत्मा जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है, 'प्रत्यगात्मा' अथवा व्यक्तिगत आत्मा कही जाती है और जो आत्मा विश्व के पीछे उसकी पथ-प्रदर्शक, नियंत्रक और शासक है, वह ईश्वर है।" (वि. सा. 8, पृ. 85-86) वेदान्त यह भी मानता है कि जो भी वस्तु नष्ट होती है वह भले ही हमारी ज्ञानेन्द्रियों से परे हो जाए परन्तु परमाणु रूप में वे बने रहते हैं और यह नितान्त सम्भव है कि इन्हीं परमाणुओं से पुनः वही पदार्थ पैदा हो सके जो नष्ट हो चुका है। अतः स्पष्ट है कि कोई वस्तु शून्य से नहीं बनाई जा सकती और न ही कोई वस्तु शून्य में परिवर्तित की जा सकती है। अतः "जिस प्रकार विश्व अनादि और अनन्त है, उसी प्रकार ईश्वर भी। हम देखते हैं कि ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि यदि हम कहें कि किसी समय सृष्टि नहीं थी, सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप में भी, तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि ईश्वर भी नहीं था, क्योंकि हम ईश्वर को साक्षी, विश्व के द्रष्टा के रूप में समझते हैं। जब विश्व नहीं था, तब वह भी नहीं था। एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय आता है। कार्य के विचार से हम कारण के विचार तक पहुँचते हैं और यदि कार्य नहीं होगा, तो कारण भी नहीं होगा। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार विश्व शाश्वत है, उसी प्रकार ईश्वर भी शाश्वत है।" (वि. सा. 8, पृ. 88) दूसरे शब्दों में "हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते, जो ईश्वर न हो। अपनी पंचिन्द्रियों से जो कुछ हम सोच सकते हैं, वह सब वह है और उससे भी अधिक है।

वह (ईश्वर) एक गिरगिट के समान है। हर मनुष्य, हर राष्ट्र उसका एक आकार देखता है, जो विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न होता है। हर मनुष्य ईश्वर को देखे और जो उसे अनुकूल लगे, उसे ग्रहण करे, जैसे हर पशु प्रकृति से अपने अनुकूल आहार ग्रहण करता है।'' (वि. सा. 1, पृ. 302)

आगे बढ़ने से पहले यहाँ 'ईश्वर' शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है ताकि किसी प्रकार की भ्रांति न रहे। स्वामी विवेकानन्द ने इस शब्द के प्रयोग करने का मनोवैज्ञानिक कारण बताते हुए कहा है, ''हमारे उद्देश्य के लिए यही सर्वोत्तम है। इससे अच्छा और कोई शब्द नहीं मिल सकता, क्योंकि मनुष्य की सारी आशाएँ और सुख इसी एक शब्द में केन्द्रित हैं। अब इस शब्द को बदलना असंभव है। इस प्रकार के शब्द पहले-पहल बड़े-बड़े साधु-महात्माओं द्वारा गढ़े गये थे और वे इन शब्दों का तात्पर्य अच्छी तरह समझते थे। धीरे-धीरे जब समाज में उन शब्दों का प्रचार होने लगा, तब अज्ञ लोग भी उन शब्दों का व्यवहार करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि शब्दों की महिमा घटने लगी। स्मरणातीत काल से 'ईश्वर' शब्द का व्यवहार होता आया है। सर्वव्यापी बुद्धि का भाव तथा जो कुछ महान और पवित्र है, सब इसी शब्द में निहित है। यदि कोई मूर्ख इस शब्द का व्यवहार करने में आपत्ति करता हो, तो क्या इसीलिए हमें इस शब्द को त्याग देना होगा? एक दूसरा व्यक्ति भी आकर कह सकता है—'मेरे इस शब्द को लो।' फिर तीसरा भी अपना एक शब्द लेकर आयेगा। यदि यही क्रम चलता रहा, तो ऐसे व्यर्थ शब्दों का कोई अन्त न होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि उस पुराने शब्द का ही व्यवहार करो; मन से अंधविश्वासों को दूर कर, इस महान प्राचीन शब्द के अर्थ को ठीक तरह से समझकर, उसका और भी उत्तम रूप से व्यवहार करो। यदि तुम लोग समझते हो कि भाव-साहचर्य-विधान (law of association of ideas) किसे कहते हैं, तो तुमको पता चलेगा कि इस शब्द के साथ कितने ही महान ओजस्वी भावों का संयोग है, लाखों मनुष्यों ने इस शब्द का व्यवहार किया है, करोड़ों आदमियों ने इस शब्द की पूजा की है और जो कुछ सर्वोच्च एवं सुन्दरतम है, जो कुछ युक्तियुक्त, प्रेमास्पद और मानवीय भावों में महान एवं सुंदर है, वह समस्त इस शब्द से सम्बन्धित है। अतएव यह इन सब साहचर्य भावों का संकेत देने वाला कारण है, इसलिए इसका त्याग नहीं किया जा सकता।''

(वि. सा. 2, पृ. 106-107)

वेदान्त मानता है कि आशा का परित्याग करो क्योंकि मनुष्य के पास सब-कुछ है, वही सब-कुछ है। वह आत्मा है, वह ईश्वर है। "हम लोग यदि जान सकें कि हम ईश्वर हैं और इस अन्वेषणरूपी व्यर्थ चेष्टा को छोड़ सकें, तो बहुत ही अच्छा हो। इस प्रकार अपने को ईश्वरस्वरूप जान लेने पर ही हम संतुष्ट और सुखी हो सकते हैं। सब पागलों जैसी चेष्टा छोड़कर जगत्रूपी मंच पर एक अभिनेता के समान कार्य करते चलो।" (वि. सा. 8, पृ. 33)

इस प्रकार "अद्वैतवाद हमें यह शिक्षा देता है कि मनुष्य का यथार्थ व्यक्तित्व है समष्टि-ज्ञान में, व्यष्टि-ज्ञान में नहीं। जब तुम अपने को सम्पूर्ण समझोगे, तभी तुम एक हो जाओगे, और तभी जिसे तुम परमात्मा कहते हो, जिसे सत्ता कहते हो और जिसे पूर्ण कहते हो, वह विश्व से एक हो जायेगा। और हमारी तरह की मनोवृत्ति वाले लोग एक ही अखंड सत्ता को विविधतापूर्ण विश्व के रूप में देखते हैं। जो लोग कुछ और अच्छे कर्म करते हैं तथा उन्हीं सत्कर्मों के बल से जिनकी मनोवृत्ति कुछ और उत्तम हो जाती है, वे मृत्यु के पश्चात् इसी ब्रह्माण्ड में इन्द्रादि देवों का स्वर्गलोक देखते हैं। उनसे भी ऊँचे लोग इसमें ही ब्रह्मलोक देखते हैं। और जो लोग पूर्ण सिद्ध हो गये हैं, वे पृथ्वी, स्वर्ग या कोई दूसरा लोक नहीं देखते, उनके लिए यह ब्रह्माण्ड अन्तर्हित हो जाता है, उसकी जगह एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान रहता है।" (वि. सा. 5, पृ. 307)

इस दृष्टि से देखें तो अद्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा ही दुखों का कारण है। व्यक्ति-सीमित जीवात्मा के कारण ही मनुष्य अपने को अन्य वस्तुओं से अलग समझता है। अतः यही घृणा, ईर्ष्या, दुख, संघर्ष आदि अनिष्टों का कारण है। "इसके परिहार से सभी संघर्ष, सभी दुख समाप्त हो जाते हैं। अतः इसका परिहार आवश्यक है। निम्न से निम्न सत्ताओं के लिए भी हमें अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य जब एक लघु कीट के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग करने को तत्पर हो जाता है, तो वह पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। वेदान्तवादियों के अनुसार पूर्णत्व ही जीवन का अभीष्ट है।" (वि. सा. 9, पृ. 69) इस प्रकार वेदान्त के अनुसार असीमता ही मनुष्य का सच्चा स्वरूप है, वह कभी लुप्त नहीं

हो सकती, सदा रहेगी। मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपने को सीमाबद्ध करता है और इसी में उसने स्वयं को शृंखला डालकर आबद्ध कर रखा है। स्वयं को कर्म में आबद्ध करने के कारण ही वह इस संसार चक्कर में फँसा रहता है। विवेकानन्द ने इस चक्र को अत्यन्त सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार, ''संसार का यह 'चक्र के भीतर चक्र' एक भीषण यंत्र-रचना है। इसके भीतर हाथ पड़ा नहीं, हम फँसे नहीं, कि हम गए। हम सभी सोचते हैं कि अमुक कर्तव्य पूरा होते ही हमें छुट्टी मिल जायेगी, हम चैन की साँस लेंगे; पर उस कर्तव्य का मुश्किल से एक अंश भी समाप्त नहीं हो पाता कि एक दूसरा कर्तव्य सिर पर आ खड़ा होता है। संसार का यह प्रचण्ड शक्तिशाली, जटिल यंत्र हम सभी को खींचे ले जा रहा है। इससे बाहर निकलने के केवल दो ही उपाय हैं—एक तो यह कि उस यंत्र से सारा नाता ही तोड़ दिया जाय—वह यंत्र चलता रहे, हम एक ओर खड़े रहें और अपनी समस्त वासनाओं का त्याग कर दें। अवश्य, यह कह देना तो बड़ा सरल है, परन्तु इसे अमल में लाना असम्भव-सा है। मैं नहीं कह सकता कि दो करोड़ आदमियों में से एक भी ऐसा कर सकेगा। दूसरा उपाय है—हम इस संसार-क्षेत्र में कूद पड़ें और कर्म का रहस्य जान लें। इसी को कर्मयोग कहते हैं। इस संसार-यंत्र से दूर न भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कौशल से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है। स्वयं इस यंत्र के माध्यम से ही बाहर निकल आने का मार्ग है।'' (वि. सा. 3, पृ. 87-88)

सवाल हो सकता है कि यह कर्म क्या है? यदि कर्म का अर्थ उपकार है तो फिर उपकार करने का क्या अर्थ है? क्या हम सचमुच संसार का उपकार कर सकते हैं? विवेकानन्द इन सवालों का वेदान्त की दृष्टि से जवाब देते हुए कहते हैं कि उपकार का यदि 'निरपेक्ष उपकार' अर्थ लिया जाए तो उत्तर नहीं है परन्तु सापेक्ष दृष्टि से हाँ कहा जा सकता है। वे कहते हैं कि संसार के प्रति ऐसा कोई भी उपकार नहीं किया जा सकता जो चिरस्थायी हो। फिर भी इस उपकार के द्वारा लोगों के दुख को कम करने का प्रयत्न अवश्य होता रहा है। अतः कर्म का अर्थ निस्वार्थ और निष्काम भाव से कार्य करना है। विवेकानन्द उसी को कर्मयोगी कहते हैं। उनकी दृष्टि में, ''कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के सिद्धांत में विश्वास करने की

आवश्यकता नहीं। वह ईश्वर में भी चाहे विश्वास करे अथवा न करे, आत्मा के संबंध में भी अनुसंधान करे या न करे, किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी करे अथवा न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसके समक्ष उसका अपना लक्ष्य रहता है–निस्वार्थता की उपलब्धि और उसको अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना होता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण साक्षात्कार का होना चाहिए, क्योंकि उसे किसी मत या सिद्धांत की सहायता लिए बिना अपनी समस्या का समाधान केवल कर्म द्वारा ही करना होता है।'' (वि. सा. 3, पृ. 83) अतः विवेकानन्द की दृष्टि में, अनासक्त होकर ही चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। उनके शब्दों में, ''बिना किसी स्वार्थ के किया हुआ प्रत्येक सत् कार्य हमारे पैरों में और एक बेड़ी डालने के बदले पहले की ही एक बेड़ी को तोड़ देता है। बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित हो जाएगा–वह हमारे पैरों में से एक बेड़ी को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जाएगा, और अंततः हम पवित्रतम मनुष्य बन जायेंगे।'' (वही, पृ. 89)

विवेकानन्द की दृष्टि में केवल महात्मा बुद्ध एकमात्र ऐसे मानव हैं जिन्हें इस कसौटी पर वे सफल पाते हैं। बुद्ध के कार्यों के पीछे व्यक्तिगत उद्देश्य का लवलेश भी नहीं था और उनकी अपेक्षा अधिक कार्य किसी व्यक्ति ने नहीं किया। अतः ''केवल वही व्यक्ति सबकी अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है, जो पूर्णतः निस्वार्थी है, जिसे न तो धन की लालसा है न कीर्ति की और न किसी अन्य वस्तु की। और मनुष्य जब ऐसा करने में समर्थ हो जाएगा, तो वह भी एक बुद्ध बन जाएगा। और उसके भीतर से ऐसी शक्ति प्रकट होगी, जो संसार की अवस्था को सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित कर सकती है।'' (वही, पृ. 90) इसके लिए मनुष्य को अपने कर्म के बन्धनों को देखना होगा, समझना और तोड़ना पड़ेगा। वास्तव में इसे तोड़ना ही मुक्त होना है। यह मुक्ति स्वाधीनता से ही प्राप्त हो सकती है। विवेकानन्द इस स्वाधीनता पर बल देते हुए कहते हैं, ''स्वाधीनता ही मानव का चरम लक्ष्य है–जब तक वह स्वाधीनता की प्राप्ति नहीं करता, तब तक किसी तरह भी उसका असंतोष दूर नहीं हो सकता। मनुष्य सर्वदा ही स्वाधीनता का अनुसंधान कर रहा है, मनुष्य का समग्र जीवन ही केवल इस स्वाधीनता-प्राप्ति की चेष्टा है।...स्वाधीनता की यह आकांक्षा ही पूर्णतः

स्वतंत्र एक सत्ता की भावना को जन्म देती है।" (वि. सा. 2, पृ. 293) "स्वाधीनता ही इसका मूल मन्त्र है, स्वाधीनता ही इसका स्वरूप है—इसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पहले मुक्त बनो, तब फिर जितने व्यक्तित्व रखना चाहो, रखो। तब हम लोग रंगमंच पर अभिनेताओं के समान अभिनय करेंगे, जैसे अभिनेता भिखारी का अभिनय करता है।" (वि. सा. 8, पृ. 32) अतः "वेदान्त शिक्षा देता है कि निर्वाण का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार कर लेना; और यदि एक बार भी, वह चाहे क्षणभर के लिए ही क्यों न हो, हमें यह अवस्था प्राप्त हो गयी, तो फिर कभी भी हम व्यक्तित्व की भ्रांति से विमोहित न हो सकेंगे।" (वि. सा. 9, पृ. 74) इस प्रकार सत्य दर्शन के लिए मनुष्यों को अपने से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। सच्चाई यह है कि सभी अतीत और सभी अनागत इसी वर्तमान में निहित हैं। अतीत को देखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार भविष्य को देखने के लिए उसे भी वर्तमान में उतार लाना पड़ेगा। अतः वर्तमान ही यथार्थ सत्य है—शेष सब कल्पना है। अतएव "वेदान्त का लक्ष्य 'देह-भाव-त्याग' नहीं, 'देह-भाव-अतिक्रमण' है।" (वि. सा. 9, पृ. 84) मनुष्य का कार्य आत्मा को मुक्त करना नहीं, वरन् बन्धन से पिण्ड छुड़ाना है।

"वेदान्त डंके की चोट पर कहता है कि यदि तुम ही अपने को बंधन में समझते हो, तो बंधन में पड़े रहोगे; यदि तुम जानते हो कि तुम मुक्त हो, तो बस मुक्त हो गये। इस प्रकार इस दर्शन का चरम लक्ष्य तथा उद्देश्य हमें यह बोध कराता है कि हम सदैव मुक्त रहे हैं और नित्य मुक्त रहेंगे। हम न कभी परिवर्तित होते हैं, न मरते हैं और न जन्म लेते हैं।" (वि. सा. 9, पृ. 97) इस सच्चाई को जानने वाला वेदान्ती ही बिना किसी हिचकिचाहट के दूसरे के लिए अपना जीवन दे सकता है, क्योंकि वह जानता है कि वह अमर है। "जब मनुष्य इस त्याग की अवस्था में आरूढ़ हो जाता है, तब वह नैतिक संघर्ष के—समस्त वस्तुओं के परे चला जाता है। तब, वह महापंडित, गाय, कुत्ते और सर्वभूतों में उसी देवत्व का प्रकाश देखता है। केवल वही सुखी है। और जिसने इस एकत्व का अनुभव कर लिया है, उसने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। परमात्मा पवित्र है; अतः ऐसा व्यक्ति परमात्मा में अवस्थित कहा जाता है।...यह बात नहीं है कि मुक्त होने पर मनुष्य कर्म करना छोड़ दे और निर्जीव मिट्टी

का ढेर बन जाय, प्रत्युत् वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कर्मशील होता है, क्योंकि अन्य लोग तो केवल बाध्य होकर कर्म करते हैं, पर वह स्वतंत्र होकर।'' (वि. सा. 9, पृ. 75) इसीलिए वेदान्त का प्रतिपाद्य है 'विश्व का एकत्व', विश्वबन्धुत्व नहीं।

विवेकानन्द साक्षी भाव पर भी बल देते हैं। उनका मानना है, ''इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षी स्वरूप हो सको उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व ब्रह्माण्ड के साक्षी स्वरूप हो सको। तभी मुक्त पुरुष हो सकोगे। जो साक्षी स्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा-स्तुति को सम दृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षी स्वरूप है आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नहीं।'' (वि. सा. 5, पृ. 309)

वेदान्ती होने के लिए शिष्य होना आवश्यक है। वेदान्तियों ने शिष्य होने के लिए मुख्य चार शर्तें रखीं जो कठोर भी हैं और महत्वपूर्ण भी। पहली शर्त यह है कि जो शिष्य सत्य को जानना चाहता है, वह इस लोक अथवा परलोक में कुछ प्राप्त करने की सभी इच्छाओं को त्याग दे। उसे संसार, स्वर्ग और सभी प्रकार की कामनाओं को त्यागना होगा।

शिष्य के लिए दूसरी शर्त यह है कि उसे अपनी अंतरिन्द्रियों और बहिरिन्द्रियों को नियंत्रित करने में समर्थ होना चाहिए और कुछ आध्यात्मिक गुणों में दृढ़ होना चाहिए। उसे अपने मन को एकाग्र करना होगा, शांत करना होगा। शिष्य की सहनशक्ति भी महान होनी चाहिए। उसे अपने गुरु में भी अटल विश्वास होना चाहिए। और गुरु भी ऐसा मनुष्य होना चाहिए, जिसने जान लिया है, दैवी शक्ति को वास्तव में अनुभव कर लिया है, और अपने को आत्मा के रूप में देख लिया है।

शिष्य के लिए तीसरी शर्त यह है कि उसमें मुक्त होने की आकांक्षा अत्यंत तीव्र हो। वह अपने को उज्ज्वल, अमर अस्तित्व के रूप में जितना अधिक सोचेगा, उतना ही अधिक वह पदार्थ, शरीर और इन्द्रियों से सम्पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक होगा। मुक्त होने की तीव्र इच्छा यही है।

चौथी और अंतिम शर्त शिष्यता की यह है कि उसे सत् और असत् का विवेक हो। केवल एक वस्तु (ईश्वर) है, जो सत्य है। सदा मन उसकी

ओर लगा रहे, उसे समर्पित रहे। (वि. सा. 3, देखिए पृ. 191 से 203 तक)

विवेकानन्द ने इन चारों शर्तों के बारे में कहा है, "इन सब शर्तों के–इन सब तैयारियों के–पूर्ण होने पर शिष्य का हृदय-कमल खिलेगा और तब भ्रमर आएगा। तब शिष्य को ज्ञान होगा कि गुरु उसके शरीर में, उसके भीतर था। वह खिलता है। वह अनुभूति पाता है। वह जीवन के सागर को पार करता है, परे जाता है। वह इस भयावह सागर को पार करता है; और दयावश बिना लाभ अथवा स्तुति का विचार किए, दूसरों को इसे पार करने में सहायता देता है।" (वि. सा. 3, पृ. 203)

विवेकानन्द ने वेदान्त पर अपने विचारों को पूर्णतः स्पष्ट करते हुए इस सत्य से भी आँख नहीं चुराई कि उनका वेदान्त दर्शन भी वस्तुतः एक विचार प्रणाली ही है और वह ही केवल अंतिम सत्य नहीं है। उनके शब्दों में, "यह सत्य है कि हम एक विचार-प्रणाली की–एक मत या वाद की–सृष्टि करते हैं, किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि सत्य सभी प्रणालियों से परे की चीज़ है। हम अपने उस मत की अन्य मतों से तुलना करने को तैयार हैं, और यह सिद्ध भी कर सकता है कि वही एकमात्र युक्तिसंगत मत हो सकता है; पर वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि युक्ति स्वयं अपूर्ण है। तो भी, वही एकमात्र युक्तिसंगत विचार-प्रणाली है, जिसकी धारणा मानव मन कर सकता है।" (वि. सा. 9, पृ. 73)

विवेकानन्द इस सच्चाई से भी मुँह नहीं मोड़ते हैं कि यह संसार जैसा है–दुख और सुख से पूर्ण–वैसा ही रहेगा। उनका कहना है, "इस संसार में शुभ और अशुभ शक्तियों की समष्टि सदैव समान रहेगी। हम सिर्फ उसे यहाँ से वहाँ ढकेलते रहते हैं; परन्तु यह निश्चित है कि वह सदैव समान रहेगी, क्योंकि वैसा रहना ही उसका स्वभाव है। यह ज्वार-भाटा, चढ़ाव-उतार तो संसार की प्रकृति ही है। इसे विपरीत सोचना तो वैसा ही युक्तिसंगत होगा, जैसा यह कहना कि मृत्यु बिना जीवन के संभव है।" (वि. सा. 3, पृ. 85) अतः विवेकानन्द की दृष्टि में, "पूर्ण निरपेक्ष समता, अर्थात् सभी स्तरों की समस्त प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों का पूर्ण सन्तुलन इस संसार में कभी नहीं हो सकता। उस अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व ही सारा संसार किसी भी प्रकार के जीवन के लिए सर्वथा अयोग्य बन जाएगा, और वहाँ कोई भी प्राणी न रहेगा।...वह क्या चीज़ है, जो मनुष्य-मनुष्य में भेद स्थापित

करती है?–वह है मस्तिष्क की भिन्नता।...जब तक यह संसार है, तब तक विभेद भी रहेगा, और यह सतयुग अथवा पूर्ण समता तभी आएगी, जब कल्प का अन्त हो जाएगा।" (वि. सा. 3, पृ. 87) उनके शब्दों में, "यह संसार सदा सुख और दुख, शुभ और अशुभ का मिश्रण रहेगा; यह चक्र सदा नीचे-ऊपर चलता रहेगा, विनाश और प्रतिस्थापन अनिवार्य विधान है। वे धन्य हैं, जो इनसे परे जाने के लिए संघर्षरत हैं।" (वि. सा. 4, पृ. 295) सुख-दुख के इस दुश्चक्र के मूल कारण पर प्रकाश डालते हुए विवेकानन्द कहते हैं, "हम इतने आलसी हैं कि अपने लिए स्वयं कुछ करना नहीं चाहते। हम अपना प्रत्येक काम कराने के लिए किसी सगुण ईश्वर की, किसी त्राता की या किसी पैगम्बर की कामना करते हैं।" (वि. सा. 9, पृ. 85) यही बात जीव को सदा बन्धनों में रखती है।

इन सब बातों के बावजूद, "एक शब्द में वेदान्त का आदर्श है–मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप में जानना, और उसका सन्देश है कि यदि तुम अपने भाई मनुष्य की, व्यक्त ईश्वर की, उपासना नहीं कर सकते तो उस ईश्वर की कल्पना कैसे कर सकोगे, जो अव्यक्त है?" (वि. सा. 8, पृ. 34)

विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन के सार को एक उपाख्यान के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया है। वह उपाख्यान इस प्रकार है, "स्वर्ण पक्ष वाले दो पक्षी एक वृक्ष पर वास करते हैं। ऊपर जो पक्षी बैठा है, वह स्थिर, शान्त भाव से अपनी महिमा में स्वयं विभोर होकर रहता है; और जो पक्षी नीचे की डाल पर बैठा है, वह सदा चंचल रहता है, और वह इस वृक्ष का कभी मीठा फल, कभी कडुआ फल खाता है। एक बार उसने एक अत्यन्त कटु फल खाया; तब कुछ स्थिर होकर ऊपर बैठे हुए महिमामय पक्षी की ओर उसने देखा। किन्तु फिर वह उसे शीघ्र ही भूल गया, और पहले के समान ही उस वृक्ष के फल खाने में लग गया। फिर उसने एक कटु फल खाया–इस बार वह फुदक-फुदककर ऊपर की ओर कूदा और ऊपर के पक्षी के कुछ समीप जा पहुँचा। इस प्रकार अनेक बार हुआ, अन्त में नीचे का पक्षी बिलकुल ऊपर के पक्षी के स्थान पर जा बैठा, और अपने को खो बैठा–अर्थात् ऊपर वाले पक्षी के साथ एकरूप हो गया। अब उसे यह ज्ञान हुआ कि दो पक्षी कभी भी नहीं थे, वह स्वयमेव सर्वदा शांत, स्थिर भाव से स्वमहिमा में मग्न, ऊपर वाला पक्षी ही था।" (वि. सा. 7, पृ. 95)

संक्षेपतः ब्रह्म निष्क्रिय है, आत्मा ही ब्रह्म है, एवं ब्रह्म ही वह आत्मस्वरूप है—इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा ही सारी भ्रांतियाँ पूरी हो जाती हैं। यह तत्त्व पहले सुनना होगा बाद में मनन अर्थात् विचार द्वारा धारण करना होगा, अन्त में उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि करनी होगी। "मनन है, विचार के द्वारा युक्ति-तर्क के द्वारा, इस ज्ञान को अपने भीतर प्रतिष्ठित करना! प्रत्यक्षानुभूति या साक्षात्कार का अर्थ है—सर्वदा चिंतन और ध्यान के द्वारा उसे अपने जीवन का अंग बना डालना। यह अविराम चिंतन या ध्यान मानो एक पात्र से दूसरे पात्र में प्रक्षिप्त अविच्छिन्न तैलधारा के समान है। ध्यान दिन-रात मन को इस भाव में रख देता है और उसके द्वारा हमें मुक्ति-लाभ करने में सहायता पहुँचाता है। सर्वदा सोऽहं, सोऽहं यह चिन्ता करो—इस प्रकार की अविच्छिन्न चिन्ता प्रायः मुक्ति के समान है। दिन-रात कहो—सोऽहं, सोऽहं। इस प्रकार सर्वदा चिन्तन करने से अपरोक्षानुभूति प्राप्त होगी। भगवान् को इस प्रकार तन्मय भाव से सदा-सर्वदा स्मरण करना ही भक्ति है।" (वि. सा. 7, पृ. 47-48)

विवेकानन्द के इस वेदान्त दर्शन की दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली तो ये कि अत्यंत सूक्ष्म विचारधारा को विवेकानन्द ने आम लोगों तक सरल और सीधे-सीधे ढंग से पहुँचाया। जहाँ बहुत आवश्यक लगा पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया। उन्होंने युक्तियों और तर्क का प्रयोग करके अपनी बात को सिद्ध किया। दूसरी इससे भी महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने यह की कि मनुष्य को—वो चाहे किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदाय का क्यों न हो—ईश्वर बनाकर प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक आत्मविश्वास पैदा किया। सभी प्राणियों को एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित करके विवेकानन्द ने सम्पूर्ण विश्व को एक समान कर दिया। कुछ विद्वान विवेकानन्द के इन विचारों को आदर्शवादी या यूटोपियन कहकर ख़ारिज कर सकते हैं लेकिन उनके विचारों में कोई खोट नहीं है। अपने आपमें ये विचार संसार में हिंसा, भेद-भाव, ईर्ष्या, घृणा को दूर करने में पूर्णतया सक्षम हैं। कोई इन्हें न माने ये बात अलग है। मनुष्य को एक समान समझने की उदात्त दृष्टि के कारण ही हंसराज रहबर को यहाँ तक कहना पड़ा कि "उन्हें समझे बिना हमारे देश में सही मार्क्सवादी बनना संभव नहीं है।" (हंसराज रहबर : योद्धा संन्यासी, पृ. 10)

सातवाँ अध्याय

कला, संगीत, काव्य और विवेकानन्द

विवेकानन्द बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। कुशाग्र बुद्धि, अद्भुत स्मरणशक्ति एवं संवेदनशीलता के साथ-साथ विलक्षण वक्तृता, संगीत और काव्य के गुण भी उन्हें प्राप्त थे। आध्यात्मिकता को अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने वाले विवेकानन्द अपनी प्रतिभा का समुचित उपयोग कला, संगीत और साहित्य में नहीं कर पाये। लेकिन इनकी अभिव्यक्ति उनके वक्तव्यों और व्यावहारिक जीवन में होती रही है। वैसे भी उनका मानना है कि "समस्त काव्य, चित्रकला और संगीत शब्द, रंग और ध्वनि के द्वारा भावना की ही अभिव्यक्ति है।" (वि. सा. 7, पृ. 41) दोनों ही धरातलों पर उनके कला, संगीत और साहित्य (विशेषतः काव्य) पर दृष्टि डालने का विनम्र प्रयास यहाँ हुआ है।

कला

विवेकानन्द के छोटे भाई डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त का कहना है कि विवेकानन्द को कला के प्रति रुझान अपने परिवार से प्राप्त हुआ। उनके दूसरे छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त ये सूचना प्रदान करते हैं कि "अपने बचपन में दादा तस्वीरें बनाते थे। ये तस्वीरें पानी के रंगों से अंकित करते थे। वे अच्छे चित्र बनाते थे।" कला में उनकी रुचि बाद में भी रही। उस समय के सुप्रसिद्ध चित्रकार रवि वर्मा की आलोचना करने से भी उन्होंने संकोच नहीं किया था। यही नहीं उन्होंने अगस्त 1899 को न्यूयॉर्क में भगिनी निवेदिता को 'प्राचीन भारत की ललित कला' पर व्याख्यान का आयोजन

करने के लिए भी प्रेरित किया। 1900 में पेरिस में कांग्रेस ऑफ हिस्टरी ऑफ रिलिजन्स के आयोजन में विवेकानन्द ने भारतीय कला पर यूनानी कला के प्रभाव के सिद्धांत का विरोध किया। बाद में भारतीय कला के प्रमुख विद्वानों द्वारा इस विचार को स्वीकार किया गया। (देखिए डॉ. आर. सी. मजूमदार द्वारा रचित पुस्तक—स्वामी विवेकानन्द : हिस्टोरिकल रिव्यू., पृ. 86-87)

विवेकानन्द साहित्य भाग-10 में वे रवि वर्मा के चित्रों पर अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं, "बहुत प्रयत्न से उनकी नकल करने पर कहीं एकाध रवि वर्मा पैदा होते हैं। इसकी अपेक्षा देशी ढंग के चित्र बनाना अधिक अच्छा है—उनके कामों में फिर झकाझक रंग हैं। इन सबको देखने से रवि वर्मा के चित्रों का लज्जा से सिर नीचा हो जाता है। उनकी अपेक्षा जयपुर के सुनहले चित्र और दुर्गाजी के चित्र आदि देखने में अधिक सुन्दर हैं।"

विवेकानन्द की दृष्टि में, "कला सौंदर्य की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक वस्तु कलापूर्ण होनी चाहिए।" (वि. सा. 10, पृ. 43) अन्यत्र उन्होंने कहा, "मनुष्य की विलास विषयक धारणाएँ भी विचारों तथा आदर्शों के अनुसार विन्यस्त होती जाती हैं। और उसका प्रयत्न यही रहता है कि उनमें वही विचारगत यथाशक्ति प्रतिबिम्बित हो—और यही है कला।" (वि. सा. 9, पृ. 259-260)

विवेकानन्द ने यूनानी कला और इतिहास का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण अपने संस्मरणों में किया है। यह विश्लेषण विस्तार की माँग करता है, "म्यूजियम देखने पर ग्रीक कला की तीन अवस्थाएँ समझ पाया। प्रथम, मईसीनियन, द्वितीय, यथार्थ ग्रीक। आचेनी राज्य ने सन्निकट द्वीपपुंजों पर अपना अधिकार जमाया था और इसके साथ ही इन द्वीपपुंजों में, एशिया से प्राप्त, सभी प्रचलित कलाओं एवं विद्याओं का भी अधिकारी हुआ था। बहुत प्राचीन काल से आरम्भ कर ईसा के 773 वर्ष पूर्व तक 'मईसीनियन' कला का समय है। यह कला प्रधानतः एशियायी कला के अनुकरण पर ही आधारित थी। तदुपरान्त, ईसा के 776 वर्ष पूर्व से 146 वर्ष पूर्व तक 'हेलेनिक' अर्थात् यथार्थ ग्रीक कला का समय है। आचेनी साम्राज्य का, दोरियन जाति के द्वारा, विध्वंस हो जाने के अनन्तर यूरोप तथा द्वीपों में

वास करने वाले ग्रीकों ने एशिया में बहुत-से उपनिवेश स्थापित किये। इस कार्य में उन्हें बाबिल तथा मिस्री जातियों के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। तभी से ग्रीक कला की उन्नति हुई और साथ ही, एशियायी कला की भावात्मक अभिव्यक्तियों के बहिष्कार तथा कला में प्रकृति की हू-ब-हू नकल करने की प्रचेष्टा का आगमन हुआ। ग्रीक तथा अन्यान्य कलाओं में अन्तर बस इतना ही है कि ग्रीक कला प्राकृतिक एवं स्वाभाविक जीवन-घटनाओं की हू-ब-हू नकल भर है।

ईसा के 776 वर्ष पूर्व से 475 वर्ष पूर्व तक 'आर्केइक' ग्रीक कला का समय है। आज भी मूर्तियाँ कठोर हैं, जीवन्त हैं। अधर कुछ खुले मानो सर्वदा हँस रही हों। बहुत कुछ मिस्र की कलात्मक मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। सभी मूर्तियाँ दोनों पैर सीधे करके खड़ी हैं। दाढ़ी, केश सभी—खोदी हुई सरल रेखाओं द्वारा अंकित हैं; वस्त्र मूर्तियों के शरीर से चिपके हैं—उलझे-पुलझे से; झूलते हुए वस्त्रों के समान नहीं।

'आर्केइक' ग्रीक कला के बाद 'क्लासिक' ग्रीक कला का समय आता है—ईसा के 475 वर्ष पूर्व तक, अर्थात् एथेन्स के प्रभुत्व-काल से प्रारम्भ कर सिकन्दर महान के मृत्यु-काल तक इस कला की उन्नति और विकास का समय है। पिलोपेनेस तथा आर्टिका राज्य ही इस काल की कला के चरम विकास के केन्द्र थे। एथेन्स आर्टिका राज्य का ही एक प्रधान नगर था। कलाशास्त्र के मर्मज्ञ एक फ्रांसीसी विद्वान ने लिखा है—"चरम विकास के समय (क्लासिक) ग्रीक कला कठोर नियमों की ज़ंजीर से मुक्त होकर स्वाधीन-पथ-गामिनी हुई थी। उस समय वह किसी देश के कला-सम्बन्धी विधि-निषेधों के आधीन न थी, और न उसने उन नियमों के अनुसार अपने ऊपर कोई नियन्त्रण ही रखा था। भास्कर्य कला के चरम विकास के रूप में मूर्तियों का निर्माण जिस काल में हुआ था, कला के विकास की उस गौरवमयी ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के सम्बन्ध में जितनी आलोचना होती है, उतनी ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कठोर नियमों की ज़ंजीर पूर्णतया तोड़ने में सफल होने के कारण ही ग्रीक कला उस समय जीवन्त हो उठी थी।' इस 'क्लासिक' ग्रीक कला के दो सम्प्रदाय थे—आर्टिक तथा पिलोपेनेसियन। आर्टिक सम्प्रदाय की फिर दो भावधाराएँ थीं—प्रथम, महान कलाकार फिडियस की प्रतिभाशक्ति—'अपूर्व सौन्दर्य-महिमा एवं विशुद्ध

देवत्व गौरव, जिनका अधिकार मानव मानस-पटल पर युग-युगान्त तक बना रहेगा', ऐसा लिखा है जिसके सम्बन्ध में किसी फ्रांसीसी विद्वान ने। आर्टिक सम्प्रदाय की द्वितीय भावधारा के महागुरु हैं–स्कोपस और प्रैक्सिटेल। इस सम्प्रदाय का उद्देश्य था कला को धर्म से बिलकुल अलग कर उसे केवल मानव-जीवन-चित्रण में लगाना।

'क्लासिक' ग्रीक कला की पिलोपेनेसियन नामक शाखा के प्रधान गुरु थे–पॉलीक्लेट तथा लिसिप्स। इनमें से एक ने जन्म ग्रहण किया था ईसा पूर्व पाँचवीं सदी में और दूसरे ने ईसा पूर्व चौथी सदी में। इनका प्रधान उद्देश्य था–मनुष्य के अंग-प्रत्यंगों की गढ़न तथा उभार को कला में हू-ब-हू उतारना।

ईसा के 323 वर्ष पूर्व से 146 वर्ष पूर्व तक अर्थात् सिकन्दर की मृत्यु से रोमनों द्वारा आर्टिका विजय-काल तक ग्रीक कला में विकास देखने को मिलता है। उसके बाद रोमनों द्वारा ग्रीस-विजय के समय से ग्रीक कला पहले के कलाकारों की मात्र नकल कर संतुष्ट रही। कोई नवीनता यदि थी, तो बस किसी व्यक्ति की मुखाकृति की नकल भर कर लेने में!'' (वि. सा. 8, पृ. 222-223)

विवेकानन्द ने यूनानी और भारतीय कला की तुलना भी की। उनकी दृष्टि में, ''यूनानी कला का रहस्य है प्रकृति के सूक्ष्मतम ब्यौरों तक का अनुकरण करना, पर भारतीय कला का रहस्य है आदर्श की अभिव्यक्ति करना। यूनानी चित्रकार की समस्त शक्ति कदाचित् माँस के एक टुकड़े को चित्रित करने में ही व्यय हो जाती है, और वह उसमें इतना सफल होता है कि यदि कुत्ता उसे देख ले, तो उसे सचमुच का माँस समझकर खाने दौड़ आये। किंतु, इस प्रकार प्रकृति के अनुकरण में क्या गौरव है? कुत्ते के सामने यथार्थ माँस का एक टुकड़ा ही क्यों न डाल दिया जाय?

दूसरी ओर, आदर्श को–अतीन्द्रिय अवस्था को–अभिव्यक्त करने की भारतीय प्रवृत्ति भद्दे और कुरूप बिम्बों के चित्रण में विकृत हो गयी है। वास्तविक कला की उपमा लिली से दी जा सकती है, जो कि पृथ्वी से उत्पन्न होती है, उससे अपना खाद्य पदार्थ ग्रहण करती है। इसी प्रकार कला का भी प्रकृति से सम्पर्क होना चाहिए–क्योंकि यह सम्पर्क न रहने पर कला का अधःपतन हो जाता है–पर साथ ही कला का प्रकृति से ऊँचा

उठा रहना भी आवश्यक है।'' (वि. सा. 10, पृ. 43)

विवेकानन्द ने यूनानी और भारतीय चित्रकला ही नहीं जापानी और एशिया की चित्रकला पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी दृष्टि में जापानियों ने दूसरों से जो कुछ सीखा उसे आत्मसात कर अपना बना लिया है। उनके शब्दों में, ''आज जापान एक महान राष्ट्र है और इसका कारण है उनकी कला। देखते नहीं, हमारे समान वे भी एशियावासी हैं और यद्यपि आज हम अपना सर्वस्व खो बैठे हैं, फिर भी जो कुछ हमारे पास अवशेष है, वही विश्व को चकित कर देने के लिए काफी है। एशिया की आत्मा ही कलात्मक है–एशिया का हृदय चिरकाल से कला की क्रीड़ास्थली रहा है। एशियावासी कला-शून्य वस्तु का कभी उपयोग ही नहीं करता–उसके उपयोग की हर वस्तु कला से शोभित है। तुम नहीं जानते, हमारे यहाँ कला हमारे धार्मिक जीवन का एक अंग बन गयी है? हमारे देश में कोई युवती तीज-त्योहार, पर्व-उत्सव के दिन यदि घर के आँगन और भीत पर चावल के पीठा से सुन्दर चित्र बनाना जानती है, तो उसकी कितनी प्रशंसा होती है! श्री रामकृष्ण स्वयं कितने महान कलाकार थे!'' (वि. सा. 8, पृ. 234)

इसी प्रकार अंग्रेज़ों की कला की आलोचना करते हुए वे कहते हैं, ''उनकी इमारतें देखो, वे कितनी साधारण, कितनी अर्थ-शून्य हैं। इन विशाल सरकारी इमारतों को देखो, क्या इनका बाह्य स्वरूप देखकर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है कि ये किस भाव, किस आदर्श की प्रतीक हैं?–नहीं, क्योंकि ये सब प्रतीक-शून्य हैं।'' (वही)

दूसरी बार विदेश से लौटने के बाद अपने शिष्य के साथ वार्त्तालाप करते हुए उन्होंने कला की व्यावहारिक समीक्षा करते हुए कहा, ''आज एक मजेदार बात हुई, मैं एक मित्र के घर गया था। उन्होंने एक चित्र बनवाया था–विषय था कुरुक्षेत्र में अर्जुन-कृष्ण संवाद। श्रीकृष्ण रथ में खड़े हैं, हाथ में रास है, और अर्जुन को गीता का उपदेश कर रहे हैं। उन्होंने मुझे चित्र दिखाकर मेरी सम्मति माँगी। मैंने कहा, ठीक ही है। किन्तु जब वे न माने, तो उन्हें मुझे, अपना सच्चा मत बताना पड़ा कि उस चित्र में मुझे प्रशंसा योग्य कुछ नहीं दिखायी पड़ा। प्रथम तो श्रीकृष्ण के युग का रथ आज के स्तूपाकार वाहनों के समान नहीं होता था और दूसरे श्रीकृष्ण की आकृति में भावाभिव्यक्ति का नितान्त अभाव है।'' (वि. सा. 8, पृ.

237-238) अपने इस विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द ने प्राचीन कला की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया, "बौद्ध युग के बाद इस देश की हर बात में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी आ गयी। प्राचीन राजागण स्तूपाकार रथों में कभी युद्ध नहीं करते थे। राजस्थान में आज भी कुछ रथ हैं, जो उन प्राचीन रथों से कुछ मिलते-जुलते हैं। यूनान की पौराणिक कथाओं में वर्णित रथों के तुमने चित्र देखे हैं? उनमें दो चाक होते हैं और उन पर पीछे से चढ़ा जाता है। हमारे रथ भी ऐसे ही थे। यदि चित्र के इन गौण अंगों का ही अंकन सही नहीं हुआ, तो चित्र बनाने से क्या लाभ? ऐतिहासिक चित्र तभी उच्च कोटि का होगा, जब उचित अध्ययन और गवेषणा के पश्चात्, वस्तु का वैसा ही चित्रण किया जाय, जैसी वह उस युग में थी। यदि चित्र में यथार्थता नहीं है, तो उसका कोई मूल्य नहीं।" (वही) कृष्ण से सम्बन्धित इस वार्त्ता में यह प्रश्न किये जाने पर कि तब कृष्ण का चित्रण इस चित्र में कैसा होना चाहिए था, विवेकानन्द ने जवाब दिया, "श्रीकृष्ण का चित्रण वैसा ही होना चाहिए, जैसे वे थे—गीता के मूर्तस्वरूप। उस समय वे किंकर्तव्यविमूढ़, मोहग्रस्त और कार्पण्यदोषोपहत अर्जुन को धर्म का उपदेश कर रहे थे, इसलिए श्रीकृष्ण की छवि से गीता का मूल तत्त्व अभिव्यक्त होना चाहिए।...देखो, श्रीकृष्ण ने घोड़ों की रास इस प्रकार पकड़ रखी है—रास इतनी तनी है कि घोड़े अपने पिछले पैरों पर उठ गये हैं, उनके अगले पैर हवा में उठे हैं, और मुँह खुल गये हैं। इससे श्रीकृष्ण की छवि में उनकी महान कर्मशीलता प्रकट होती है। उनका मित्र, प्रथितयश योद्धा दोनों सेनाओं के बीच में, धनुषबाण एक ओर फेंक, रथ में कायर की भाँति शिथिल और शोकमग्न होकर बैठ गया है—और श्रीकृष्ण, एक हाथ में चाबुक लिए और दूसरे हाथ से रास खींचे अर्जुन की ओर थोड़ा-सा मुड़ गये हैं—उनका शिशु-सरल मुख अपार्थिव-स्वर्गीय प्रेम और सहानुभूति से दीप्त हो उठा है—और वे अपने अनन्य सखा को गीता का सन्देश सुना रहे हैं।" (वि. सा. 8, पृ. 238-239)

कला दृष्टि के कारण ही वे विश्व के शिल्प-सौंदर्य को देखने के बाद सार रूप में कहते हैं, "पृथ्वी के प्रायः सभी सभ्य देशों का शिल्प-सौन्दर्य देख आया, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के समय इस देश में शिल्पकला का जैसा विकास देखा जाता है, वैसा और कहीं भी नहीं देखा। मुग़ल

बादशाहों के समय में भी विद्या का विशेष विकास हुआ था। उस विद्या के कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी ताजमहल, जामा मस्जिद आदि भारतवर्ष के वक्ष पर खड़े हैं। मनुष्य जिस चीज़ का निर्माण करता है, उससे किसी एक मनोभाव को व्यक्त करने का नाम ही शिल्प है। जिसमें भाव की अभिव्यक्ति नहीं, उसमें रंग-बिरंगी चकाचौंध रहने पर भी उसे वास्तव में शिल्प नहीं कहा जा सकता। लोटा, कटोरे, प्याली आदि निम्न व्यवहार की चीज़ें भी उसी प्रकार कोई विशेष भाव व्यक्त करते हुए तैयार करनी चाहिए। पेरिस प्रदर्शनी में पत्थर की बनी हुइ एक विचित्र मूर्ति देखी थी। मूर्ति के परिचय के रूप में उसके नीचे ये शब्द लिखे हुए थे—'प्रकृति का अनावरण करती हुई कला' अर्थात् शिल्पी किस प्रकार प्रकृति के घूँघट को अपने हाथ से हटाकर भीतर के रूप-सौन्दर्य को देखता है। मूर्ति का निर्माण इस प्रकार किया है मानो प्रकृति देवी के रूप का चित्र अभी स्पष्ट चित्रित नहीं हुआ, पर जितना हुआ है, उतने के ही सौन्दर्य को देखकर मानो शिल्पी मुग्ध हो गया है। जिस शिल्पी ने इस भाव को व्यक्त करने की चेष्टा की है, उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता।'' (वि. सा. 6, पृ. 170)

शिल्प के साथ-साथ विवेकानन्द नाटक पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। उनका मानना है कि कला में ध्यान प्रधान वस्तु पर केन्द्रित होना चाहिए। नाटक के बारे में उनका कहना है, ''नाटक सब कलाओं में कठिनतम है। उसमें दो चीज़ों को सन्तुष्ट करना पड़ता है—पहले कान, दूसरे आँखें। दृश्य का चित्रण करने में, यदि एक ही चीज़ का अंकन हो जाए तो काफी है; परन्तु अनेक विषयों का चित्रांकन करके भी केन्द्रीय रस अक्षुण्ण रख पाना बहुत कठिन है। दूसरी मुश्किल चीज़ है मंच-व्यवस्था; यानी विविध वस्तुओं को इस तरह विन्यस्त करना कि केन्द्रीय रस अक्षुण्ण बना रहे।'' (वि. सा. 10, पृ. 43) इस प्रकार विवेकानन्द कला के बारे में अपनी स्पष्ट दृष्टि का परिचय देते हैं और इस संबंध में व्यावहारिक सुझाव भी।

संगीत

जहाँ तक संगीत का सम्बन्ध है विवेकानन्द के पिता विश्वनाथ को संगीत से अत्यधिक प्रेम था। ''एक बार उस्ताद रखकर उन्होंने संगीत का अभ्यास किया था। रायपुर में रहने के समय गुनगुनाते हुए गीत गाया करते

थे। दुर्गाप्रसाद का भी गला बड़ा मीठा था और नरेन्द्र की माता भुवनेश्वरी देवी का कंठ भी सुमधुर था। कृष्ण-यात्रा के गीत वे अपने मन से भली-भाँति गाती थीं एवं घर पर गायक भिखारियों के आने पर उनसे सुनकर उनके गीतों को सीख लेतीं। पूरे खानदान के लोगों की संगीत-कामना ने ही सम्भवतः नरेन्द्र को सुगायक बना दिया था।'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ. 23) कहने का तात्पर्य यह है कि उन्हें संगीत विरासत में मिला था। इसे उन्होंने विधिवत् कुछ देर शिक्षा लेकर विकसित किया। उन्होंने वेणी उस्ताद से संगीत की तथा डुग्गी-तबला और पखावज की शिक्षा काशीनाथ घोषाल से पाई। (वही, पृ. 54-55) ''विश्वनाथ बाबू अपने पुत्र के समस्त गुणों के उत्कर्ष के अभिलाषी थे। अतएव नरेन्द्र ने इन उस्तादों से चार-पाँच वर्षों तक शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर पाया था तथा गीत और वाद्य दोनों ही सीखे थे। किन्तु कण्ठ संगीत में ही उन्होंने अत्यधिक सफलता पाई थी। साथ-साथ संगीत विज्ञान के सम्बन्ध में भी उन्होंने यथेष्ट ज्ञान अर्जित किया था। किसी-किसी के मतानुसार उन्होंने वेणी उस्ताद से कई वर्षों तक संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के बाद उस्ताद के गुरु अहमद खाँ से ध्रुपद, खयाल, ठुमरी, टप्पा आदि सीखे थे।'' (वही, पृ. 70)

विवेकानन्द को संगीतशास्त्र के विभिन्न अंगों पर कैसा पाण्डित्य और दक्षता प्राप्त थी इसके प्रमाण में यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा कि कुछ गीतों की रचना स्वयं करके, उनको स्वरबद्ध करके स्वयं ही गाया और 'संगीत-कल्पतरु' नामक पुस्तक की एक लम्बी-चौड़ी भूमिका भी लिखी। नब्बे पृष्ठों की भूमिका में सुर, ताल, वाद्ययंत्र, ध्वनि, बोल, स्वरसाधना, कन्सर्ट आदि अनेक विषयों का विवेचन हुआ है। इस पुस्तक के पहले संस्करण में 'श्री नरेन्द्रनाथ दत्त, बी. ए. और वैष्णवचरण बासक द्वारा संगृहित' प्रकाशित है। श्री वैष्णवचरण ने इसमें लिखा है, ''प्रायः विगत एक वर्ष से इसके संकलन का कार्य आरम्भ हुआ है। श्रीयुत बाबू नरेन्द्रनाथ दत्त, बी. ए. महाशय ने पहले इसके अधिकांश का संग्रह किया, किन्तु बाद में अनेक अपरिहार्य कारणों से समय नहीं पाने के कारण वे इसे समाप्त नहीं कर सके। इसीलिए मैंने ही इसके अवशिष्ट अंश को पूरा कर सामान्य रूप से प्रकाशित किया।'' 1887 में प्रकाशित ये पुस्तक विवेकानन्द के परेशानी

वाले दिनों के मध्य में प्रकाशित हुई। सम्भवतः इसीलिए वे इस पुस्त्क को पूरा नहीं कर पाए। छः महीने के भीतर इस पुस्तक के दो संस्करण बिक गये। तीसरे संस्करण में नरेन्द्रनाथ का नाम हटा दिया गया। "ऐसा लगता है कि पुस्तक के स्वामित्व एवं अधिकार को लेकर कुछ दिनों तक एक विवाद चला था जिससे स्वयं को अलग करने के लिए ही नरेन्द्रनाथ अलग हो गए।" (वही, देखिए, पृ. 71-72) .

विवेकानन्द के संगीत-प्रेम और संगीत की दक्षता को अभिव्यक्त करने वाले दो प्रसंगों का वर्णन करना आवश्यक जान पड़ता है। पहला प्रसंग श्री प्रियनाथ सिन्हा द्वारा वर्णित है। यह घटना उस समय की है जब वह अपने परिवार से अलग एक कमरे में अध्ययन के लिए रहते थे। परीक्षा के दिन चल रहे थे और नरेन्द्र मन लगाकर पढ़ रहे थे, "इसी समय किसी मित्र का आगमन हुआ। लगभग ग्यारह बजे होंगे। भोजन करके नरेन्द्र पढ़ रहे थे। मित्र ने आकर नरेन्द्र से कहा, 'भाई, रात में पढ़ लेना, अभी ज़रा एक-दो गाने तो सुना दो।' उसी समय नरेन्द्र ने पुस्तक बन्द कर उसे एक ओर खिसका दिया। तानपूरे के तारों को सँभालकर, उन्हें स्वर में बाँधकर गाना गाने से पहले उन्होंने अपने मित्र से कहा, 'अच्छा, तू तबला उठा।' मित्र ने कहा, 'भाई, मैं तो बजाना जानता नहीं। स्कूल में मेज का तख्ता बजा लेता हूँ, तो क्या तुम्हारे साथ तबला भी बजा सकूँगा?' तब नरेन्द्र ने स्वयं थोड़ा-सा बजाकर दिखला दिया और कहा, 'अच्छी तरह से देख ले। अवश्य बजा सकेगा। क्यों नहीं बजा सकेगा? कोई कठिन काम तो है नहीं। इस तरह बस ठेका दिये जा, हो गया।' साथ ही साथ बजाने के बोल भी बतला दिये। मित्र एक-दो बार चेष्टा करने के बाद किसी तरह ठेका देने लगा। गाना प्रारम्भ हुआ। तान-लय में उन्मत्त होकर और दूसरों को उन्मत्त बनाकर नरेन्द्र के हृदयस्पर्शी स्वर में टप्पा, ढप, खयाल, ध्रुपद, बँगला, हिन्दी और संस्कृत गानों का प्रवाह चलने लगा। किसी नवीन ठेके के समय नरेन्द्र इतनी सरलता से बोल के साथ ठेका बतला देते कि उन्होंने अपने मित्र द्वारा इस तरह कव्वाली, एक-ताला, आड़ाठेका, मध्यमान, यहाँ तक क्रि सुरफाँक ताल भी बजवा लिया। नरेन्द्र के पास गानों की कमी नहीं थी। हिन्दी गाना प्रारम्भ होने पर नरेन्द्र पहले उसका अर्थ समझा देते थे और उसके अन्तर्निहित भावों के साथ स्वर-लय का अपूर्व ऐक्य दिखलाकर

मित्र को मुग्ध कर देते थे। दिन कहाँ से होकर कहाँ निकल गया, कुछ ज्ञान नहीं हुआ। सन्ध्या आयी। घर का नौकर एक टिमटिमाता हुआ दिया रख गया। धीरे-धीरे रात के दस बज गये, तब कहीं दोनों मित्रों को होश आया। वे परस्पर विदा हुए, नरेन्द्र अपने पिता के घर भोजन करने के लिए चले गये और मित्र ने अपने घर की ओर प्रस्थान किया।" (वि. सा. 8, पृ. 259-260)

विवेकानन्द के संगीत के माधुर्य और आकर्षण के संबंध में स्वामी गम्भीरानन्द ने एक दिलचस्प घटना का वर्णन यूँ किया है, "नरेन्द्रनाथ जिस घर में बैठकर गीत गाते, रास्ते के दूसरे किनारे के घर से वह दिखाई पड़ता था। नरेन्द्र के जाने बिना उस घर की एक युवती विधवा नारी अपनी खिड़की से उनके गीत को सुनती और उनकी गतिविधियों को लक्ष्य करती। एक शाम के धुँधलके में वह चोरी-चोरी नरेन्द्र के घर में प्रवेश कर उनके दरवाज़े पर उपस्थित हो गई। चकित होने पर भी नरेन्द्र ने अपनी कर्तव्य-बुद्धि नहीं खोई। वे उसके चरणों पर भक्तिभाव से झुककर बोले, 'माँ, माँ! आप क्यों आई हैं? मैं अपनी माँ को जिस दृष्टि से देखता हूँ, उसी दृष्टि से आपको भी देखता हूँ।' स्थिति को भाँपकर उस महिला ने तुरन्त विदा ली और फिर कभी भी वह उस घर में नहीं आई।" (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ. 76)

पण्डित निखिल घोष ने भी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन किया है। इससे उनकी संगीत की दक्षता का भरपूर परिचय मिलता है। "परिव्राजक के रूप में अपने भारत-भ्रमण के दौरान स्वामीजी की एकनाथ पण्डित नामक एक वरिष्ठ संगीतज्ञ के साथ मुलाक़ात हुई, जो एक ध्रुपद गायक थे। स्वामीजी ने उनका संगीत सुनने की इच्छा व्यक्त की। एकनाथ पण्डित के गाने के साथ स्वामीजी मृदंग पर संगत करने लगे। स्वामीजी के इस मृदंगवादन से गायक और श्रोता पूर्णतः सन्तुष्ट हुए। इस कार्यक्रम के पश्चात् होने वाली वार्त्तालाप से पता चला कि स्वामीजी एक अच्छे गायक भी हैं, अतः उन लोगों ने स्वामीजी से गाने का अनुरोध किया। स्वामीजी तानपूरा उठाकर ध्रुपद का आलाप लेने लगे। फिर जब वे गीत के लय पर आए, तो कोई भी मृदंग पर उनकी संगत नहीं कर सका। सहसा ही उन्होंने तानपूरा एकनाथ पण्डित के हाथ में सौंपते हुए मृदंग उठा लिया और स्वयं

ही अपनी संगत करने लगे। इस तरह सबको विस्मय के सागर में डुबाते हुए स्वामीजी ने दोनों भूमिकाएँ निभायीं। इस अद्भुत घटना पर विस्मित होकर पण्डितजी कह उठे, 'स्वामीजी, आप केवल गायक नहीं, नायक भी हैं।'

नायक की उपाधि एक ऐसे संगीतज्ञ को दी जाती है जिसमें सफल प्रदर्शन, संगीत-रचना की क्षमता, संगीतशास्त्र का ज्ञान और श्रोताओं को अभिभूत करने की प्रतिभा हो। जिन लोगों को संगीत का थोड़ा ज्ञान है, वे इस बात को ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि ध्रुपद गायन, जिसमें कि षट्-प्राण और षट्-संगत लगते हैं, के साथ मृदंग पर स्वयं ही संगत कर पाना प्रायः असंभव-सा है। इन दोनों को एक साथ अकेले ही सफलतापूर्वक कर दिखाना एक अतिमानवीय कार्य है।'' (स्वामी विदेहात्मानन्द (सं.) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 234) इसी प्रकार की एक और छोटी-सी घटना का उल्लेख स्वामी गम्भीरानन्द ने अपनी पुस्तक 'युगनायक विवेकानन्द' में किया है। दक्षिण की यात्रा में मढ़ गाँव में अपने तीन दिन के प्रवास में ''किसी एक दिन स्वामीजी के संगीत गायन के साथ उदीयमान वाद्य-सम्राट तबलावादक तरुण युवक खापरूजी (पर्वताकार) संगत कर रहे थे। तबला बजाने के साथ उनकी अंगभंगी देखकर स्वामीजी ने ऐसा करने से रोका। इस पर खापरूजी ने कहा, यह असम्भव है। तब स्वामीजी ने स्वयं तबला लेकर दिखा दिया कि वह सर्वथा सम्भव है। एक गायक को भी उन्होंने इस व्यक्तिगत मुद्रा-दोष का परित्याग करने को कहा।'' (पृ. 315)

विवेकानन्द ने संगीत के बारे में अपने विचारों को खुलकर प्रकट किया है। संगीत के बारे में उनका मानना है, ''मानव-हृदय पर संगीत का प्रबल प्रभाव पड़ता है; वह क्षणभर में चित्त को एकाग्र कर देता है। तुम देखोगे कि जड़, अज्ञानी, नीच और पशु-वृत्ति वाले मनुष्य जो अपने मन को क्षणभर के लिए भी स्थिर नहीं कर सकते, वे भी मनोहर संगीत का श्रवण करते ही तत्क्षण मुग्ध होकर एकाग्र हो जाते हैं। सिंह, कुत्ते, बिल्ली, सर्प आदि पशुओं का भी मन संगीत द्वारा मोहित हो जाता है।'' (वि.सा. 9, पृ. 9)

संगीत के महत्त्व को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं, ''जब हम कोई मधुर संगीत सुनते हैं, तो हमारा मन उसमें अनुरक्त हो जाता है और हम उसे वहाँ से हटा नहीं सकते। जो लोग अपना मन शास्त्रीय संगीत पर एकाग्र

करते हैं, उन्हें लोक-संगीत नहीं रुचता और जो लोक-संगीत पर मन एकाग्र करते हैं, उन्हें शास्त्रीय संगीत पसंद नहीं। संगीत में एक स्वर के बाद दूसरा स्वर जल्दी-जल्दी बदलता है, जिससे मन तत्काल स्थिर हो जाता है। बच्चा जीवन्त संगीत इसलिए पसन्द करता है कि स्वरों के द्रुत परिवर्तन के कारण उसके मन को इधर-उधर भागने का अवसर नहीं मिलता। जिस आदमी को सामान्य संगीत पसन्द है, वह शास्त्रीय संगीत को नापसन्द करता है, क्योंकि वह अधिक मूढ़ है, और उसे समझने में अधिक मात्रा में एकाग्रता की आवश्यकता पड़ती है।'' (वि. सा. 4, पृ. 108-109)

गीत के सौन्दर्य के बारे में एक बार उन्होंने कहा था, ''सुर और ताल ही तो संगीत की एकमात्र वस्तु नहीं हैं, गीत के भीतर भाव का प्रकाश भी आवश्यक है। कोई नकियाते स्वर में सुर छेड़ रहा है। इसे सुनते ही क्या आनन्द होता है? गीत के भीतर जो भाव है उसे गीत के भीतर से फूट पड़ने की ज़रूरत है। शब्दों का उच्चारण सुन्दर होना चाहिए और सुर-ताल के प्रति ठीक-ठीक दृष्टि रखनी होगी। जो संगीत श्रोता के मन में अनुरूप भाव नहीं जगा सकता, वह संगीत संगीत ही नहीं है।'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ. 50)

विवेकानन्द ध्रुपद गायकी को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। वे खयाल, टप्पा बन्द करके ध्रुपद का गाना सुनने का अभ्यास लोगों को कराना चाहते थे। उनका मानना था कि ध्रुपद और खयाल आदि में एक विज्ञान है। इसलिए वे ध्रुपद आदि के विज्ञान का कीर्तन के संगीत में प्रयोग करने के पक्ष में थे। उनकी दृष्टि में 'इससे पूर्ण संगीत की निष्पत्ति' होगी। उनकी दृष्टि में ''कीर्तन अर्थात् माथुर और विरह तथा ऐसी अन्य रचनाओं में ही सच्चा संगीत है—क्योंकि वहाँ भाव है। भाव ही आत्मा है, प्रत्येक वस्तु का रहस्य है। सामान्य लोगों के गीतों में कहीं अधिक संगीत है और उनका संग्रह होना अपेक्षित है।'' (वि. सा. 10, पृ. 39)

विवेकानन्द को संगीत में टप्पा पसंद नहीं है। वे इस विषय में अपनी बात स्पष्ट शब्दों में कहते हैं। उनके शिष्य के द्वारा यह कहने पर कि टप्पा तो सबको अच्छा लगता है, वे कहते हैं—''हाँ, कुछ लोगों को झींगुरों की झंकार भी अच्छी लगती है। सन्थाल भी अपने संगीत को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। तुम्हारी समझ में यह नहीं आ रहा है कि जब एक स्वर दूसरे स्वर के

पीछे इतनी द्रुतगति से आता है, तो केवल संगीत की सुषमा ही नष्ट नहीं होती, वरन् एक प्रकार का बेसुरापन पैदा हो जाता है। सातों सुरों के भिन्न-भिन्न प्रकार के संयोगों को भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों का नाम दिया गया है। पर टप्पे में, उल्टी ही बात है। यहाँ तो एक राग से दूसरे राग की ओर दौड़ है, एक नयी धुन बनायी जाती है और फिर आलाप में आवाज़ ऊँची उठाकर उसमें कम्प लाया जाता है। भला इसमें कोई राग कैसे शुद्ध और पूर्ण बना रह सकता है? फिर, यदि केवल प्रभावोत्पादन के लिए ही, लघु-गुरु आलापों का इतना प्रचुर उपयोग किया जाए, तो संगीत की काव्यात्मकता तो बिलकुल नष्ट हो जाती है। जब से टप्पे का प्रचार हुआ तब से भाव व्यक्त करने के लिए गीतों का गाया जाना तो बिलकुल ही बन्द हो गया।...जो ध्रुपद गाने में दक्ष हैं, उन्हें टप्पा तो कर्कश ही लगता है।'' (वि. सा. 8, पृ. 247

विवेकानन्द भारतीय संगीत के बारे में अपना स्पष्ट दृष्टिकोण रखते थे। उनका मानना था कि युगों पूर्व भारत में संगीत को पूर्ण सप्त स्वरों तक विकसित किया गया था, यहाँ तक कि अर्द्ध एवं चतुर्थांश स्वर तक भी विकसित हुए थे। (वि. सा. 1, पृ. 262) उनकी दृष्टि में, ''हमारे संगीत में सुरों का आरोह-अवरोह बहुत सुन्दर बन पड़ता है। फ्रांस वालों ने संगीत के इस गुण को पहचाना है और अपने संगीत में अपनाने का प्रयत्न किया है। उनको देखकर यूरोप-भर में इसका अनुकरण होने लगा।'' (वि. सा. 8, पृ. 247) विवेकानन्द का मानना था कि हमारा संगीत केवल कीर्तन और ध्रुपद में ही शुद्ध रूप में जीवित है। शेष सब इस्लामी संगीत कला के अनुकरण से दूषित हो गया है। उनके शब्दों में, ''भारत में आकर मुसलमानों ने यहाँ की राग-रागिनियों को अपनाया तो अवश्य, पर टप्पा-गीतों पर उन्होंने अपने संगीत की इतनी गहरी छाप मारी कि यहाँ का संगीत नष्ट हो गया।'' (वही, पृ. 246)

विवेकानन्द ने पाश्चात्य संगीत पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका कहना है, ''पाश्चात्य संगीत बहुत उत्कृष्ट है। उसमें गीत माधुरी, लय उस चरम सीमा को प्राप्त हो चुकी है, जो हमारे संगीत में नहीं है। यह और बात है कि हमारे अनभ्यस्त कानों को पाश्चात्य संगीत रुचिकर प्रतीत नहीं होता, और हम सोचते हैं कि वे सियारों के समान चिल्लाते

हैं। पहले मेरा भी यही खयाल था, पर जब मैंने उनके संगीत को ध्यानपूर्वक सुनना शुरू किया और उस शास्त्र का अध्ययन किया, तो प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका।'' (वही, पृ. 246)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विवेकानन्द न केवल स्वयं एक अच्छे संगीतज्ञ थे बल्कि अपने विचारों में भी इसको स्पष्ट अभिव्यक्त करते थे। वह आजीवन गाते रहे। उनके शिष्यों द्वारा लिखे गए संस्मरणों में यह स्पष्ट होता है कि प्रायः वह बातचीत के मध्य या बाद में अपनी रौ में कोई न कोई गीत गुनगुनाया करते थे। विवेकानन्द का यह पक्ष उनके वेदान्त दर्शन में कहीं छुप-सा गया है लेकिन इसे दृष्टि से ओझल करके उनका मूल्यांकन करना उचित नहीं है।

काव्य

विवेकानन्द की सौन्दर्य-चेतना के साथ उनकी काव्य-चेतना का अभिन्न संबंध है। एक आध्यात्मिक व्यक्ति होने के कारण कला, संगीत और काव्य उनके लिए गौण स्थान रखता था। लेकिन इनकी उपेक्षा करके विवेकानन्द के व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। काव्य के संदर्भ में यह बात इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि न केवल उन्होंने काव्य से संबंधित अपने विचार प्रकट किए बल्कि स्वयं काव्य का सृजन भी किया। ये बात अलग है कि इसका केन्द्रबिन्दु भी वेदान्त और विवेकानन्द की दार्शनिक चेतना है। काव्य के बारे में उनका विचार है, ''कविता नितान्त आवश्यक है। तुम संसार के सबसे बड़े दार्शनिक हो सकते हो, पर दर्शन उच्चतम कविता है। वह सूखी हड्डियाँ नहीं है। वह वस्तुओं का सार-तत्त्व है। सत्य स्वयं किसी द्वैतवाद से अधिक कवित्वमय है।'' (वि. सा. 3, पृ. 228) इसलिए उनका मानना है कि यदि हमें कविता की भूख है तो उसका आस्वादन किया जाना चाहिए। ''बाहरी स्तर पर जीवात्मा को जितनी कविता और जितने धर्म की आवश्यकता है, लेने दो।'' (वही) सम्भवतः इसीलिए विवेकानन्द हिन्दू जाति के निर्माण की दो अन्तरवर्ती शक्तियाँ मानते हैं। इनमें एक काव्य-दृष्टि की निर्भीकता है। उनकी दृष्टि में, ''जब प्राचीन काल में ज्ञान और भाव ऋषियों के हृदय में एक साथ प्रस्फुटित हो उठते थे, तब सर्वोच्च सत्य ने काव्य की भाषा ग्रहण की और तभी वेद और

अन्य शास्त्र रचे गये। इसी कारण, उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि वैदिक सत्य पर मानो भाव और ज्ञान की दोनों समानान्तर रेखाएँ अंततः मिलकर एकाकार हो गयी हैं और एक-दूसरे से अभिन्न हैं।'' (वि. सा. 10, पृ. 222)

विवेकानन्द ने भारतीय दर्शन के साथ कविता को जोड़ते हुए उपनिषदों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में, ''प्राचीन उपनिषदों में हमें उदात्त कविता मिलती है। उनके रचयिता कवि थे। प्लेटो ने कहा है—कविता के द्वारा अंतःस्फुरण प्राप्त होता है। ऐसा लगता है, कवित्व के माध्यम से उच्चतम सत्यों के साक्षात् कराने के लिए ही मानो विधाता ने सत्य के द्रष्टा इन प्राचीन ऋषियों को मानवता से इतना ऊँचा उठा दिया था। वे न तो प्रचार करते थे, न दार्शनिक ऊहापोह करते थे और न कभी लिखते ही थे। उनके हृदय-निर्झर से संगीत का उद्गम हुआ था।'' (वि. सा. 2, पृ. 94)

उदात्त भाव के चित्रण के लिए अन्य जातियों के कवियों ने भी प्रयत्न किए हैं। लेकिन उनका आदर्श बाह्य प्रकृति के महान भाव को ग्रहण करना रहा है। ''उदाहरणस्वरूप मिल्टन, दाँते, होमर अथवा अन्य किसी पाश्चात्य कवि को लिया जा सकता है। उनके काव्यों में स्थान-स्थान पर उदात्त भावव्यंजक अपूर्व स्थल हैं, किन्तु उनमें सर्वत्र ही बाह्य प्रकृति की अनन्तता को इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करने की चेष्टा है—बाह्य प्रकृति के अनन्त विस्तार, देश की अनन्तता के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न है।'' (वि. सा. 5, पृ. 129)

विवेकानन्द की दृष्टि में यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। ''बाह्य प्रकृति का अनन्त विस्तार जिस प्रकार वेद संहिता में चित्रित होकर पाठकों के सामने रखा गया है, वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। संहिता के इस 'तम आसीत् तमसा गूढम्' वाक्य को याद रखकर तीन भिन्न-भिन्न कवियों के अन्धकार वर्णन के साथ इसकी तुलना करके देखो। हमारे कालिदास ने कहा है—'सूचीभेद्य अन्धकारः', उधर मिल्टन कहते हैं—'उजाला नहीं है, दृश्यमान अंधकार है।' परन्तु ऋग्वेद संहिता में है—'अंधकार से अन्धकार ढँका हुआ है, अन्धकार के भीतर अन्धकार छिपा हुआ है।' हम उष्ण कटिबन्ध के रहने वाले सहज ही में समझ सकते हैं कि जब सहसा नवीन वर्षागम होता है, तब सम्पूर्ण दिक्मंडल अन्धकाराच्छन्न हो जाता

है और उमड़ती हुई काली घटाएँ दूसरे बादलों को घेर लेती हैं। इसी प्रकार कविता चलती है, परन्तु संहिता के इस अंश में भी बाहरी प्रकृति का वर्णन किया है। बाहरी प्रकृति का विश्लेषण करके मानव-जीवन की महान समस्याएँ अन्यत्र जैसे हल की गयी हैं, वैसे ही यहाँ भी।'' (वि. सा. 5, पृ. 222)

विवेकानन्द के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी काव्य विषयक अवधारणा कितनी उदात्त थी और वे इसे दार्शनिक चिन्तन के साथ जोड़कर देखते थे। अपने जीवन में जो 30-32 कविताएँ उन्होंने अंग्रेज़ी, बँगला और संस्कृत भाषा में रचीं उनमें भी यह सत्य बार-बार उद्‌घाटित होता है। अपने विद्यार्थी जीवन में उन्होंने शेली को पढ़ा था। ''शेली की बौद्धिकतापूर्ण सौंदर्य तत्त्व की उपासना, निर्वैयक्तिक विश्वप्रेम का तत्त्व एवं गौरवोज्ज्वल चिर मंगलमय मानव जाति के भाव दर्शन ने उन्हें इतना स्पन्दित कर दिया जितना दार्शनिकों की तर्कशीलता भी नहीं कर सकी। अब यह विश्व ब्रह्माण्ड उनके समक्ष एक प्राणहीन, प्रेमविहीन यन्त्र विशेष नहीं रहा, बल्कि उन्होंने यह अनुभव किया कि उसमें एक आध्यात्मिक एकता विद्यमान है।'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ. 64) फिर वर्ड्सवर्थ उनके प्रिय हुए, ''भाषा और भाव-सौंदर्य की दृष्टि से काव्य-जगत में वर्ड्सवर्थ उनका हृदय हर लेते थे। उनकी दृष्टि में काव्य बहुरंगी सुचित्रित छवि की भाँति मनोरम शब्द-विन्यास के साथ रचित एक ऐसा मनोहारी चित्र था जो हृदय में ऊँचे आदर्श की प्रेरणा उत्पन्न कर मनुष्य को अनायास ही अतीन्द्रिय जगत में ले जा सकता है।'' (स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ. 69-70) यही नहीं वे शेक्सपियर के अतुकांत काव्य को 'आश्चर्यजनक मनोरम' पाते हैं (वि. सा. 1, पृ. 262) राह चलते 'मेघदूत' के श्लोक सुनाते हैं। (वि. सा. 8, पृ. 233) 'गीत गोबिंद' के बारे में वे कहते हैं, ''श्री जयदेव संस्कृत भाषा के अंतिम कवि थे। उन्होंने कई स्थानों में भाव की अपेक्षा श्रुति-मधुर पदविन्यास पर अधिक ध्यान दिया है। देखो, 'गीत गोबिंद' के—

पतित पतत्रे विचलित पत्रे शंकितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्।।

इन श्लोकों में कवि ने अनुराग तथा व्याकुलता की क्या पराकाष्ठा दिखलायी है! आत्मदर्शन के लिए हृदय में वैसी ही व्याकुलता होनी चाहिए।'' (वि.

सा. 6, पृ. 16-17) इसी प्रकार वे आदिकवि वाल्मीकि के बारे में बात करते हुए भाव-विभोर हो जाते हैं—"महाकवि ने जिस भाषा में रामचरित का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा अधिक पावन, प्रांजल, मधुर अथवा सरल भाषा हो ही नहीं सकती। और सीता के विषय में क्या कहा जाय! तुम संसार के समस्त प्राचीन साहित्य को छान डालो, और मैं तुमसे निःसंकोच कहता हूँ कि तुम संसार के भावी साहित्य का भी मंथन कर सकते हो, किन्तु उसमें से तुम सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकोगे। सीता-चरित्र अद्वितीय है। यह चरित्र सदा के लिए एक ही बार चित्रित हुआ है।" (वि. सा. 5, पृ. 150) विवेकानन्द सीता के चरित्र के बारे में यहाँ तक कहते हैं, "चाहे हमारे सब पुराण नष्ट हो जायें, यहाँ तक कि हमारे वेद भी लुप्त हो जायें, हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए काल स्रोत में विलुप्त हो जाय, किन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो, जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषा बोलने वाले पाँच भी हिन्दू रहेंगे, तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी। सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं; हम सभी सीता की सन्तान हैं।" (वही) कहने का तात्पर्य यह कि उन्हें कविता भाती थी।

विवेकानन्द स्वयं एक कवि थे। डॉ. आर. सी. मजूमदार का तो यहाँ तक कहना है कि "यह सहजता से ही विश्वास किया जा सकता है कि नरेन्द्रनाथ दत्त यदि स्वामी विवेकानन्द न बने होते तब बंगाल के उन्नीसवीं सदी के बहुत से अच्छे कवियों में एक की वृद्धि होती।" (आर. सी. मजूमदार : स्वामी विवेकानन्द—ए हिस्टोरिकल रिव्यू, पृ. 85) विवेकानन्द के बारे यह कथन अत्युक्ति नहीं है। उनके काव्य में वो सभी तत्त्व मौजूद हैं जो किसी व्यक्ति को बड़ा कवि बनाते हैं।

विवेकानन्द की सभी कविताओं के मूल में वेदान्त है। विवेकानन्द की वेदान्तिक विचारधारा को समझ लेने पर उनकी कविताओं को समझना आसान हो जाता है। उनकी कविता दार्शनिक कविता है—लेकिन वह कोरी बौद्धिक कविता नहीं है। उसमें कवि की संवेदनशीलता और भावना का संस्पर्श स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। प्राध्यापक नरेन्द्रदेव वर्मा उन्हें एक प्रकृत कवि मानते हैं। विवेकानन्द की बौद्धिकता और संवेदनशीलता

के समन्वय को वे तुरीयावस्था का कवि मानते हैं। इस संदर्भ में उनका कहना है, "सामान्यतः उद्वेलन को एकमात्र काव्य-गुण माना जाता रहा है, किन्तु उद्वेलन के साथ परिष्कार की क्रिया भी काव्य-प्रभाव का एक उल्लेखनीय अंग है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति सामान्य मानव-जीवन की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं, किन्तु इनके परे तुरीय का भी अस्तित्व है। जो व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील होता है, उसका व्यक्तित्व यदा-कदा इन तीन अवस्थाओं के परे लाँघ जाया करता है और उसे तुरीयावस्था की एकान्विति का बोध हो जाता है। कवि इसी चरम अनुभूति के दृश्यमान पक्ष को अपनी अभिभूत वाणी के माध्यम से प्रकट करता है। यह काव्य-तत्त्व का रहस्य है। जो कवि जितने समय तक तुरीयावस्था की अनुभूति करता है तथा वाणी के माध्यम से उस अनुभूति को जितनी सफलता से व्यक्त करता है, वह उतना ही अधिक प्रकृत कवि कहा जाएगा।

...उनका काव्य तुरीयावस्था का निष्कलुष एवं अकृत्रिम आस्फालन है। उनकी अभिव्यंजना पर्याप्त सशक्त थी, इसीलिए वे चरमानुभूति को व्यंजित करने के लिए अन्य कवियों की भाँति क्लिष्ट उपमानों एवं दुरूह प्रतीकों का संचय नहीं करते। उन्होंने प्रत्यक्ष विधि से चरमानुभूति को मूर्तता प्रदान की है।

विवेकानन्द का काव्य समाधि की सृष्टि है। समाधि तुरीयावस्था का ही दूसरा नाम है। यह वह अवस्था है, जिसमें मानव-व्यक्तित्व पूर्णतः एकान्विति प्राप्त कर लेता है। उसकी अनेकमुखी प्रवृत्तियाँ अपनी विभेदकता खोकर एक अपूर्व सामंजस्य का अनुभव करती हैं।" (स्वामी विदेहात्मानन्द (सं.) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 223-224) जीवन और दर्शन के सत्य को एकाकार करने वाली कविताओं में विवेकानन्द ने संसार के यथार्थ और वेदान्त के सत्य दोनों रूपों को उद्घाटित किया है। नरेन्द्रदेव वर्मा ने तो उनकी कविताओं को दो भागों में विभक्त किया है, "विवेकानन्द के काव्य को विषय और शैली की दृष्टि से दो भागों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग की कविताओं में सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष शैली की अवतारणा की गई है। इनमें कवि विवेकानन्द का वह रहस्यवादी रूप प्रकट है जो मात्र रहस्य में ही विराम नहीं पाता, अपितु उसकी पूर्णाभिव्यक्ति की चेतना से भी सम्पृक्त है। उनकी कविताएँ रहस्यमय सत्य की नहीं,

अपितु सत्य की रहस्यात्मकता की विविध अभिव्यंजनाएँ हैं। हम इस वर्ग में कवि की 'समाधि', 'सखा के प्रति', 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को', 'नाचे उस पर श्यामा', 'काली माता' और 'संन्यासी का गीत' प्रभृति कविताओं को रख सकते हैं। सत्य के सगुण स्वरूप पर आधृत कविताएँ दूसरे वर्ग में रखी जाएँगी। इन कविताओं में ईश्वर के सगुण रूप पर निवेदित भावनाओं के समर्थन के साथ ही मानवीय मूल्य के विविध आयामों की रचनाएँ निहित हैं।'' (स्वामी विदेहात्मानन्द (सं.) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 225) नरेन्द्रदेव इस दूसरे वर्ग की कविताओं को स्तुतिपरक मानते हैं। ''यहाँ हम रहस्यवादी स्वामी विवेकानन्द को भक्त विवेकानन्द के रूप में देखते हैं।'' (स्वामी विदेहात्मानन्द (सं) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 230) विवेकानन्द के काव्य के विभाजनों पर बहस करने की अपेक्षा उनके मूल प्रतिपाद्य पर बात करना अधिक समीचीन होगा।

विवेकानन्द ने इस संसार के यथार्थ को कभी नहीं नकारा। उसे स्वीकार किये बिना वेदान्त की उदात्तता प्राप्त भी नहीं की जा सकती। विवेकानन्द उस यथार्थ का चित्रण यूँ करते हैं–

स्वास्थ्य रोग में, दुख में सुख है–अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी है रोदन जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम मति मन?–छिड़ा हुआ है रण अविराम
घोर द्वन्द्व का, यहाँ पुत्र को भी न पिता देता है स्थान,
गूँज रहा रव घोर स्वार्थ का, कहाँ शान्ति का शुचि आकार।
(वि. सा. 9, पृ. 322)

अथवा

जिसने वैभव और सत्ता के मद में चूर होकर
स्वास्थ्य के साथ उपभोग किया
और मदान्ध होकर धरती को अपना क्रीड़ाक्षेत्र
और विवश मानव को अपना खिलौना बनाया,
हज़ारों सुख भोगे,
दिन और रात की चमचमाती रंगीनियाँ देखीं,
एक क्षण ऐसा भी देखा कि
उसकी दृष्टि धूमिल हो चली है,

अघायी हुई इन्द्रियाँ शिथिल हो रही हैं
और स्वार्थ की कठोर विकृत रचना ने
उसके हृदय को ढँक लिया है।

(वि. सा. 10, पृ. 186)

अथवा

अच्छा या बुरा समय बीतता है–
कभी हर्षातिरेक से हृदय गद्गद् होता है
और कभी दुखों के सागर लहराने लगते हैं,
यहीं, हम सभी सुख-दुख से प्रभावित हो
कभी रोते और कभी हँसते हैं।
हम अपने-अपने रंग में होते हैं
और ये दृश्य अदल-बदलकर आते रहते हैं–
चाहे सुख चमके या दुख बरसे।

(वि. सा. 10, पृ. 192)

यह जीवन का एक पक्ष है जिससे हम सब दो-चार होते हैं और प्रायः कवि यहीं तक अपने आपको अभिव्यक्त कर पाते हैं। जीवन का, स्वार्थ का, दुख-सुख का चित्रण ही कवि का प्रतिपाद्य होता है। लेकिन विवेकानन्द यहाँ तक नहीं रुकते। वे इससे आगे जाते हैं, इसे आप आशा कह लें या आध्यात्मिक शब्दावली में आत्मज्ञान कह लें–

उसने एक शुभ रात्रि में देखा
कि एक प्रकाश-किरण उतरकर
उसके पास आ रही है,
पता नहीं, क्या है, कहाँ से?
उसने इस प्रकाश को ईश्वर कहा
और उसे पूजा।
आशा, उसके पास एक अजनबी की तरह आयी,
और उसे अनुप्राणित किया,
जीवन ऐसा बन गया कि जिसकी
स्वप्न में भी कभी कल्पना नहीं की,
उसने समझा और

इस विश्व के परे भी देखा।
ऋषियों ने मुस्कराकर इसे अन्धविश्वास कहा,
किन्तु, उसने शक्ति और शान्ति का अनुभव किया था
और नम्रतापूर्वक बोला,
'कितना शुभ है यह अन्धविश्वास।'

(वि. सा. 10, पृ. 186)

अथवा
उसकी आँखें खुल गयीं और उसने समझा
कि ये कंकड़-पत्थर और पेड़-पौधे सदैव तद्वत् हैं
क्योंकि ये विधान का अतिक्रमण नहीं करते।
मनुष्य की यह शक्ति है कि वह
भाग्य से संघर्ष कर उसे जीत सकता है
और नियम-बन्धनों से ऊपर उठ सकता है।
उसकी वह निष्क्रिय प्रकृति बदली और
उसे जीवन नया-नया लगा, व्यापक और व्यापक,
और वह दिन आया कि सामने प्रकाश फूटा
और शाश्वत शान्ति के कक्षों की झलक उसने पायी—
इन संघर्षों के समुद्र को चीरकर ही वह संभव है।
और तब उसने पीछे मुड़कर देखा,
अतीत का अकृतार्थ निष्फल जीवन,
तरु और प्रस्तर सम चेतनाविहीन;
दूसरी ओर उसका स्खलन-पतन—
जिसके लिए संसार ने त्याग दिया उसे;
अब उस पतन को भी उसने धन्य माना।
और वह प्रसन्न हृदय से बोला,
"यह पाप भी कितना शुभ सिद्ध हुआ!!"

(वि. सा. 10, पृ. 187-188)

विवेकानन्द का काव्य यहाँ भी विराम नहीं पाता। वह उस स्थिति को भी अभिव्यक्त करता है जहाँ कविता दर्शनशास्त्र का स्पर्श कर लेती है और यही विवेकानन्द को अभीष्ट है—

ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

(वि. सा. 9, पृ. 325)

अथवा

तत्त्व केवल एक में ही,
है कहीं न अनेक, मैं ही एक,
अतः मुझमें ही सभी 'मुझ' हैं।
मैं स्वयं से घृणा कर सकता नहीं,
मैं स्वयं को त्याग भी सकता नहीं,
प्यार, प्यार ही है मुझे सम्भव! (वि. सा. 10, पृ. 181)

यही वेदान्त का सार है और यही विवेकानन्द बार-बार कहते हैं। इसी भावदशा को प्राप्त करने के लिए वह सबको प्रेरित करते हैं, प्रोत्साहित करते हैं—

तोड़ो सब श्रृंखला उन्हें निज जीवन-बन्धन जान,
हों उज्ज्वल कांचन के अथवा क्षुद्र धातु के म्लान,
प्रेम-घृणा, सद्-असद्, सभी ये द्वन्द्वों के संधान!
दास सदा ही दास, समादृत वा ताड़ित-परतंत्र,
स्वर्ण निगढ़ होने से क्या वे सुदृढ़ न बंधन-यंत्र?
अतः उन्हें संन्यासी तोड़ो, छिन्न करो, गा यह मंत्र,

(वि. सा. 10, पृ. 173)

अथवा

ओ देवता, निर्बाध बढ़ो, अपने पथ पर,
तब तक,
जब तक कि यह सूर्य आकाश के मध्य में न आ जाय—
जब तक तुम्हारा आलोक विश्व में प्रत्येक देश में प्रतिफलित न हो;
जब तक नारी और पुरुष सभी
उन्नत मस्तक होकर यह नहीं देखें
कि उनकी ज़ंजीरें टूट गयीं

और नवीन सुखों के वसन्त में (उन्हें) नवजीवन मिला!

(वि. सा. 10, पृ. 204)

विवेकानन्द की घनीभूत पीड़ा को अभिव्यक्त करने वाली एक सुन्दर कविता है–'मेरा खेल खत्म हुआ'। जो लोग विवेकानन्द को केवल एक बौद्धिक और तार्किक मानते हैं, उन्हें ये कविता अवश्य पढ़नी चाहिए। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये–

आह, इस अप्रतिहत प्रवाह से
कितनी थकान हो आयी है मुझे,
ये दृश्य बिलकुल नहीं भाते,
यह अनवरत बहाव और पहुँचना कभी नहीं,
यहाँ तक कि तट की दूरी की झलक भी नहीं मिलती!
जन्म-जन्मान्तरों में, उन द्वारों पर व्याकुल प्रतीक्षा की,
किन्तु, हाय, वे नहीं खुले
प्रकाश की एक किरण भी पाने में असफल ये आँखें,
पथरा गयीं।
जीवन के ऊँचे और सँकरे पुल पर खड़े हो
नीचे झाँकता हूँ और देखता हूँ–
संघर्षरत, क्रन्दन करते और अट्टहास करते लोगों को।
किसलिए?
कोई नहीं जानता।
वह सामने देखो–
अन्धकार त्योरी चढ़ाये अड़ा है, और कहता है–
'आगे कदम न रखो, यही सीमा है
भाग को ललचाओ मत, सहन करो, जितना कर सको।'

(वि. सा. 10, पृ. 176)

सूर्य के माध्यम से स्वाधीनता को रेखांकित करती एक कविता देखिये जो विवेकानन्द के काव्यत्व का पूरा परिचय देती है–

वह देखो, वे घने बादल छँट रहे हैं,
जिन्होंने रात को, धरती को अशुभ छाया से
ढँक लिया था!

किन्तु, तुम्हारा चमत्कारपूर्ण स्पर्श पाते ही
विश्व जाग रहा है।
पक्षियों ने सहगान गाये हैं,
फूलों ने, तारों की भाँति चमकते
ओसकणों का मुकुट पहनकर
झूम-झूमकर तुम्हारा सुन्दर स्वागत किया है।
झीलों ने प्यार भरा हृदय तुम्हारे लिए खोला है
और अपने सहस्त्र-सहस्त्र कमल-नेत्रों के द्वारा
मन की गहराई से
निहारा है तुम्हें।
हे प्रकाश के देवता!
सभी तुम्हारे स्वागत में संलग्न हैं।
आज तुम्हारा नव स्वागत है।
हे सूर्य, तुम आज मुक्ति-ज्योति फैलाते हो।

(वि. सा. 10, पृ. 203)

उल्लेखनीय है कि यह सूर्य स्वाधीनता का ही नहीं ज्ञानालोक का भी प्रतीक है। कविता का अर्थ पाठक अपने ढंग से लगा सकता है। जैसे 'संन्यासी का गीत' का ऊपर उद्धृत अंश देते हुए शिखा अग्रवाल ने इसे 'राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता का उद्घोष' कहा है। (शिखा अग्रवाल : स्वामी विवेकानन्द और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, पृ. 132) क्रांतिकारियों और राष्ट्रवादियों ने यहीं से स्वतंत्रता का मंत्र लिया। (वही, पृ. 193) जबकि नरेन्द्रदेव वर्मा का इसके बारे में कहना है कि इस कविता में "कवि विवेकानन्द, जगत् की नानाविधात्मक और परिवर्तनशील प्रवृत्तियों की क्षणभंगुरता को जानकर, मूल तत्त्व के उपलब्धिमय ज्ञान को प्राप्त करने की वेगवती इच्छा को प्राणों में अनुभव करने वाले मनुष्यों को चरम अनुभूति के मार्ग में दीक्षित करते हैं।" (स्वामी विदेहात्मानन्द (सं.) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 229) विवेकानन्द की यह सर्वाधिक चर्चित कविता है। श्रेष्ठ कविता की यह पहचान है कि वह पाठक के सामने कई अर्थ प्रकट करने की क्षमता रखती है। वैसे भी अब तो संरचनावादियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोई भी पाठ अंतिम नहीं होता।

विवेकानन्द की कविता मानव के चरम लक्ष्य को अभिव्यक्त करने वाली कविता है। जिस क्षेत्र को आधार बनाकर विवेकानन्द ने काव्य रचना की है, बहुत कम कवि उस क्षेत्र को, उस उदात्तता को चुनते हैं। विवेकानन्द की कविता को समझने के लिए वेदान्त के साथ-साथ काव्य और दर्शन तथा काव्य की उदात्ततम भूमि को समझना अत्यंत आवश्यक है। 'सखा के प्रति' कविता में संसार की गतिशीलता और इसकी नियामक शक्ति, रहस्य पर प्रकाश डाला गया है और सुख-दुख के बीच प्रेम को एकमात्र मार्ग बताया है। 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' में प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूप का वर्णन है जिनके तादात्म्य से कोई भेद नहीं रहता। 'नाचे उस पर श्याम' में "कवि ने प्राकृतिक व्यापारों के प्रति मन की परिवर्तनशील आस्था का निरूपण कर उसकी विडम्बना प्रदर्शित की है।" (स्वामी विदेहात्मानन्द : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 228) 'जागृत देवता' में वेदान्त दर्शन की अभिव्यक्ति है।

विवेकानन्द की कविता उनके दार्शनिक विचारों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। ये कविताएँ सामान्य धरातल पर अभिव्यक्त नहीं हुई हैं। नरेन्द्रदेव वर्मा के शब्दों में कह सकते हैं, "हम विवेकानन्द के काव्य को गीता का एक अग्रिम विकास मान सकते हैं। राग और बुद्धि की एकान्विति प्रकृत काव्य का मूलभूत गुण है और विवेकानन्द का काव्य आदि से अन्त तक इस एकान्विति में अभिषिक्त है।" (वही, पृ. 231)

काव्य के साथ-साथ विवेकानन्द ने गद्य में यूरोप यात्रा के संस्मरण लिखकर अपने श्रेष्ठ गद्यकार होने का प्रमाण भी दिया। उनकी दृष्टि बहुत स्पष्ट थी। अपने गद्य में वह स्पष्ट विश्लेषण करने में रुचि दिखाते हैं। प्रायः वह पूर्व और पश्चिम का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं और उसका सूक्ष्म विश्लेषण भी करते हैं। उदाहरण के रूप में—

"चीनियों का भोजन सचमुच एक कसरत है। हमारे देश में जैसे पानवाली लोहे के पतर के दो टुकड़ों से पान तराशती है, उसी प्रकार चीनी दाहिने हाथ में लकड़ी के दो टुकड़े अपनी हथेली और अंगुलियों के बीच में चिमटे की तरह पकड़ते हैं और उसी से तरकारी आदि खाते हैं। फिर दोनों को एकत्र कर एक कटोरी भात मुँह के पास लाकर उन्हीं दोनों के सहारे उस भात को ठेल-ठेलकर मुँह में डालते हैं।

सभी जातियों के आदिम पुरुष जो पाते थे, किसी जानवर को मार कर उसे एक महीने तक खाते थे, सड़ जाने पर भी नहीं छोड़ते थे। धीरे-धीरे लोग सभ्य हो गये। खेती-बाड़ी होने लगी। जंगली जानवरों की तरह एक दिन खूब खाकर चार-पाँच दिन भूखे रहने की प्रथा उठ गई। रोज़ भोजन मिलने लगा, फिर भी बासी और सड़ी वस्तुओं को खाना नहीं छूटा। पहले सड़ी-गली चीज़ें आवश्यक भोजन थीं, पर अब वे चटनी-अचार के रूप में नैमित्तिक भोजन हो गयी हैं।" (वि. सा. 10, पृ. 82)

विवेकानन्द के गद्य का सुन्दर रूप उनके पत्रों में विशेष रूप से देखा जा सकता है। ये पत्र उनके द्वारा विभिन्न लोगों को लिखे गए हैं और उनकी अद्भुत अभिव्यक्ति क्षमता के बेहतरीन उदाहरण हैं।

अभिव्यक्ति के लिए विवेकानन्द ने भाषा पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी दृष्टि में, "भाषा विचारों की वाहक है। भाव ही प्रधान हैं, भाषा गौण हैं।" इस संबंध में वे अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं, "स्वाभाविक तौर पर जिस भाषा में हम अपने मन के विचारों को प्रकट करते हैं, जिस भाषा में हम अपना क्रोध, दुख एवं प्रेम इत्यादि प्रदर्शित करते हैं, उससे अधिक उपयुक्त भाषा और कौन हो सकती है! अतः हमें उसी भाव को, उसी शैली को बनाए रखना होगा। उस भाषा में जितनी शक्ति है, थोड़े-से शब्दों में उसमें जिस प्रकार अनेक विचार प्रकट हो सकते हैं तथा उसे जैसे चाहो घुमाया-फिराया जा सकता है, वैसे गुण किसी कृत्रिम भाषा में कदापि नहीं आ सकते। भाषा को ऐसी बनाना होगा—मानो शुद्ध इस्पात, उसे जैसा चाहो मरोड़ लो, पर फिर जैसे का तैसा : कहो तो एक चोट में ही पत्थर काट दे, लेकिन दाँत न टूटे।" (वि. सा. 10, पृ. 167) इस प्रकार विवेकानन्द भाषा के लचीलेपन पर बल देते हैं। यही नहीं उनकी दृष्टि में, "भाषा का रहस्य है सरलता। भाषा संबंधी मेरा आदर्श मेरे गुरुदेव की भाषा है, जो थी तो नितांत बोल-चाल की भाषा, साथ ही महतम अभिव्यंजक भी। भाषा को अभीष्ट विचार को सम्प्रेषित करने में समर्थ होना चाहिए।" (वि. सा. 10, पृ. 42)

विवेकानन्द भाषा के इस रूप के साथ-साथ संस्कृत को भी अत्यंत महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में, "मनुष्यों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। साथ ही संस्कृत की शिक्षा भी अवश्य होती

रहनी चाहिए, क्योंकि संस्कृत शब्दों की छवि मात्र से ही जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त हो जाता है।" (वि. सा. 5, पृ. 184) विवेकानन्द की दृष्टि में संस्कृत में पांडित्य होने से ही भारत में सम्मान प्राप्त होता है। यहाँ यह बात दोहराना आवश्यक प्रतीत होता है कि वह अंग्रेज़ी भाषा के भी समर्थक थे और इसके शिक्षण पर भी बल देते थे।

अपनी मातृभाषा बँगला के बारे में भी उनके विचार उल्लेखनीय हैं। "बँगला भाषा का आदर्श संस्कृत न होकर पाली भाषा होना चाहिए, क्योंकि पाली भाषा बँगला से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। पर बँगला में पारिभाषिक शब्दों को बनाने अथवा उनका अनुवाद करने में संस्कृत शब्दों का व्यवहार उचित है। नए शब्दों को गढ़ने का भी प्रयत्न होना चाहिए। इसके लिए, यदि संस्कृत के कोश से पारिभाषिक शब्दों का संग्रह किया जाए तो उससे बँगला भाषा के निर्माण में बड़ी सहायता मिलेगी।" (वि. सा. 10, पृ. 42)

विवेकानन्द ने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' काव्य के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं। इस काव्य में नए विचारों को अभिव्यक्त करते हुए भाषा में भी मौलिक प्रयोग किए गये थे। विवेकानन्द की दृष्टि में इस तरह का दूसरा काव्य बँगला भाषा में तो है नहीं, समस्त यूरोप में भी वैसा काव्य मिलना आजकल मुश्किल है। इस महत्त्वपूर्ण काव्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारे देश में कोई कुछ नई बात करे तो तुम लोग उसके पीछे पड़ जाते हो। पहले अच्छी तरह देखो कि वह आदमी क्या कह रहा है। पर ऐसा न करके ज्योंही किसी में कोई नई बात दिखाई दी कि लोग उसके पीछे पड़ गये, वह 'मेघनाद-वध', जो तुम्हारी बँगला भाषा का मुक्ता मणि है, उसे नीचा दिखाने के लिए एक 'छछूंदर-वध' काव्य लिखा गया। पर इससे हुआ क्या? करता रहे जो कोई जो कुछ चाहे। वही 'मेघनाद-वध' काव्य अब हिमालय की तरह अटल होकर खड़ा है, परन्तु उसमें दोष निकालने में जो लोग व्यस्त थे, उन सब समालोचकों के मत और लेख अब न जाने कहाँ बह गये? माइकेल नवीन छंद और ओजपूर्ण भाषा में जिस काव्य की रचना कर गये, उसे साधारण लोग क्या समझेंगे? इसी प्रकार यदि जो जी. सी. आजकल नए छंदों में अनेकानेक उत्कृष्ट पुस्तकें लिख रहा है, उनकी भी तो तुम्हारे बुद्धिमान पंडितगण कितनी समालोचना कर रहे हैं, दोष निकाल रहे हैं। पर क्या जी. सी. उसकी परवाह

करता है? समय आने पर ही सब लोग उन पुस्तकों का मूल्य समझेंगे।'' (वि. सा. 6, पृ. 190) अपनी बात को सिद्ध करने के लिए विवेकानन्द माइकेल का 'मेघनाद-वध' पुस्तकालय से मँगवाकर अपने शिष्य को उसका सर्वश्रेष्ठ अंश भी पढ़कर सुनाते हैं।

इस प्रकार नए विचार और नई भावनाओं का समर्थक होने के कारण स्वयं उन्होंने जब बँगला भाषा में नया प्रयोग किया तो उसका विरोध हुआ था। उनके शिष्यों तक ने इसका विरोध किया। इस संबंध में वे स्पष्ट शब्दों में अपनी बात कहते हैं—''उस दिन मैंने 'हिन्दू धर्म क्या है?' इस विषय पर बँगला भाषा में एक लेख लिखा तो तुम्हीं में से किसी ने कहा कि इसकी भाषा तो प्रांजल नहीं। मेरा अनुमान है कि सब वस्तुओं की तरह कुछ समय के बाद भाषा और भाव भी फीके पड़ जाते हैं। आजकल इस देश में यही हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। श्री गुरुदेव के आगमन से भाव और भाषा में नवीन प्रवाह आ गया है। अब सबको नवीन साँचे में ढालना है, नवीन प्रतिभा की मुहर लगाकर सब विषयों का प्रचार करना पड़ेगा। देखो न, संन्यासियों की प्राचीन चाल-ढाल टूटकर अब क्रमशः कैसी नवीन परिपाटी बन रही है। इसके विरुद्ध समाज में भी बहुत कुछ प्रतिवाद हो रहा है, परन्तु इससे क्या? क्या हम उससे डरें? आजकल इन संन्यासियों को प्रचार-कार्य के निमित्त दूर-दूर जाना है। यदि प्राचीन संन्यासियों का वेश धारण कर अर्थात् भस्म लगाकर और अर्द्धनग्न होकर वे कहीं विदेश को जाना चाहें तो पहले तो जहाज पर ही उनको सवार नहीं होने देंगे। और यदि किसी प्रकार विदेश पहुँच जायें तो उनको कारागृह में निवास करना होगा। देश, सभ्यता और समयोपयोगी कुछ-कुछ परिवर्तन सभी विषयों में कर लेना पड़ेगा। अब मैं बँगला भाषा में लेख लिखने की सोच रहा हूँ—सम्भव है कि साहित्य-सेवी उनको पढ़कर निन्दा करें। करने दो—मैं बँगला भाषा को नए साँचे में ढालने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। आजकल लेखक जब लिखने बैठते हैं, तब क्रियापद का प्रयोग करते हैं। इससे भाषा में शक्ति नहीं आती। विशेषण द्वारा क्रियापदों का भाव प्रकट करने से भाषा में ओज अधिक बढ़ता है। आगे तुम लोग इस प्रकार लिखने की चेष्टा करो तो 'उद्‌बोधन' में ऐसी ही भाषा में लेख लिखने का प्रयत्न करना। भाषा में क्रियापद प्रयोग करने का क्या तात्पर्य है? जानते हो? इस प्रकार

भावों को विराम मिलता है। इसलिए अधिक क्रियापदों का प्रयोग करना जल्दी-जल्दी श्वास लेने के समान दुर्बलता का चिह्न मात्र है। यही कारण है कि बँगला भाषा में अच्छी वक्तृता नहीं की जा सकती। जिनका किसी भाषा पर अच्छा अधिकार है, वे भावाभिव्यक्ति रोककर नहीं चलते। दाल-भात का भोजन करके तुम लोगों का शरीर जैसा दुर्बल हो गया है भाषा भी ठीक वैसी ही हो गई है। खान-पान, चाल-चलन, भाव-भाषा सबमें तेजस्विता लानी होगी। चारों ओर प्राण का संचार करना होगा, नस-नस में रक्त का प्रवाह तेज़ करना होगा, जिससे सब विषयों में प्राणों का स्पंदन अनुभव हो, तभी इस घोर जीवन-संग्राम में देश के लोग बचे रह सकेंगे। नहीं तो शीघ्र ही इस देश और जाति को मृत्यु की छाया ढँक लेगी।" (वि. सा. 6, पृ. 94-95)

इस प्रकार विवेकानन्द कला, संगीत, काव्य और भाषा पर अपने मौलिक विचार रखते थे। उनके जीवन का मूल लक्ष्य वेदांत का प्रचार था लेकिन जब भी उन्हें अवसर मिला, उन्होंने अपनी साहित्यिक अभिरुचि, दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया। विवेकानन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व का यहाँ स्पष्ट परिचय मिलता है। उनका दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक था और उन्होंने कभी इन सब बातों को वेदान्त से अलग करके नहीं देखा। यही उनका सबसे बड़ा योगदान है और इसी वजह से वे सभी के लिए सम्माननीय हैं।

आठवाँ अध्याय

विवेकानन्द का महत्त्व

समकालीन चिन्तन को प्रभावित करने वालों में विवेकानन्द का योगदान सर्वाधिक है। विवेकानन्द का सम्पूर्ण जीवन इस बात की गवाही देता है। वे एक ऐसे मनीषी, चिन्तक हैं जिन्होंने सैद्धान्तिक चिन्तन-मनन, दर्शन, विचारों को न केवल व्यावहारिक स्तर पर उतारा वरन् पहली बार इसे सामान्य जन तक पहुँचाया। विवेकानन्द बड़ी आसानी से जनसामान्य से कटकर एक आध्यात्मिक गुरु का बाना पहनकर अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे लेकिन उनका जीवन ठीक इसके विपरीत जनसामान्य को सम्मान, प्यार, और आत्मविश्वास देने में व्यतीत हुआ। उन्होंने सारे भारत का भ्रमण करके इसके दारिद्र्य को अपनी आँखों से देखा और महसूस किया। उन्होंने पंडितों के अत्याचार, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, घृणा में लिप्त लोगों को अत्यंत निम्न स्तर पर जीते देखा और आजीवन इन प्रवृत्तियों से मुक्त होकर पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्र का व्यवहार करने का संदेश देते रहे—स्वयं एवं अपने संन्यासियों को इसे संदेश तक न रखकर कार्यरूप में परिणत करके एक आदर्श स्थापित करते रहे।

विवेकानन्द का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य गुलाम और आत्मकेन्द्रित; आलस्य में डूबे भारतीय गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करना था। विवेकानन्द से पूर्व कोई भारतीय चिन्तक विदेशियों की दृष्टि में भारत की बिगड़ी छवि को सुधारने, भारतीय धर्म और दर्शन को अनुपयोगी और निरर्थक कहने वाले विदेशियों को अकाट्य उत्तर देने की हिम्मत नहीं जुटा पाया था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशों में भ्रमण करके भारतीय चिन्तन-धारा को

सभी पश्चिमी धर्मों से श्रेष्ठ सिद्ध किया, भारत को पुनः गौरवान्वित किया, पश्चिम को भारत को सम्मान देने के लिए मजबूर किया। यह सब उनके प्रखर चिन्तन और श्रेष्ठ वक्तृता से संभव हो पाया। सम्पूर्ण विश्व में भारतीय दर्शन की पताका फहराने वाले विवेकानन्द का यह कार्य आज भी अद्वितीय है। विदेशों में जाकर भारतीय चिन्तन-धारा पर बाद में अनेक भारतीय विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये और प्रतिष्ठा पाई है—कुछ तो आजीवन वहीं रहे हैं लेकिन इन सबके लिए भूमिका तैयार करने वाले अकेले विवेकानन्द ही थे। उनसे पूर्व किसी भारतीय ने यह कार्य इस गरिमा के साथ नहीं किया था। विजातीय, विदेशी पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी अपने शिष्य रूप में स्वीकार करने का क्रांतिकारी क़दम भी विवेकानन्द ने ही पहली बार उठाया था। आज अनेकों सम्प्रदायों के विदेशी संन्यासी मिल जायेंगे लेकिन इसके लिए द्वार खोलने का काम विवेकानन्द ने ही किया। आज यह कार्य कई लोगों को आसान लग सकता है लेकिन यदि ध्यान से देखा जाये तो यह कार्य आज भी दुष्कर है। भारतीय इतिहास विषय के अंग्रेज़ प्राध्यापक ए. एल. बाशम ने ऐसे ही तो नहीं कहा कि विश्व इतिहास में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने पश्चिम पर प्राच्य की आध्यात्मिक संस्कृति का मैत्रीपूर्ण प्रति-आक्रमण किया। वे ही सर्वप्रथम ऐसे धर्म-शिक्षक हुए जिन्होंने भारत के बाहर भारतीय विचारधारा के प्रभाव का विस्तार किया। (देखिए स्वामी विदेहात्मानन्द (सं.) : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, पृ. 64) इतना ही नहीं विवेकानन्द को पहला 'अन्तर्राष्ट्रीयवादी' माना गया क्योंकि उन्होंने ही 'राष्ट्रसंघ' के निर्माण से भी पहले 1897 में राष्ट्रों के मध्य सौहार्द्रता हेतु 'अन्तर्राष्ट्रीय संघटन', 'अन्तर्राष्ट्रीय संयोजन', और 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून' बनाने का आग्रह किया था। (देखिए एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया, भाग 5, पृ. 292)

विवेकानन्द के इस कार्य के बहुत दूरगामी परिणाम हुए हैं। सदियों से गुलाम और 'हीनता ग्रंथि' (जिससे आज भी हम मुक्त नहीं हुए हैं) के शिकार भारतीय जनमानस के भीतर पहली बार एक आत्मविश्वास पैदा हुआ, उसकी सोई चेतना जाग्रत हुई। विवेकानन्द ने भारतीयों को 'सोया शेर' कहा था। भारतीय जीवन में आत्मविश्वास का नवसंचार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य विवेकानन्द ने कियां। भारत में लौटकर वे बार-बार

आत्मविश्वास और स्वतंत्रता की बात करते रहे। विवेकानन्द के इन विचारों का प्रभाव भारतीय जीवन-दर्शन पर देखने को मिलता है। विवेकानन्द की विश्व के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता और सर्वोपरिता की साहसिक प्रस्तुति और घोषणा से उन हिन्दुओं में राष्ट्रवाद के प्रति नवीन प्रेरणा और शक्ति का संचार हुआ जो यूरोपीय संस्कृति एवं सभ्यता के सम्मुख स्वयं को हेय समझते थे। इस हीनता ग्रंथि के टूटने का ही परिणाम था नवजागरण और देश में स्वतंत्रता आंदोलन तथा समाज सुधार की लहर का प्रबल रूप धारण करना।

विवेकानन्द ने धर्म के मानवतावादी स्वरूप को पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ रूप में स्थापित किया। उन्होंने धर्म को जिस धरातल पर लाकर व्याख्यायित किया उसमें विश्व के सभी मनुष्य समा सकते हैं। उन्होंने नववेदान्त को व्यावहारिक धरातल पर लाकर यह स्पष्ट किया कि आत्मप्रीति का अर्थ सब प्राणियों पर प्रीति, समस्त पशु-पक्षियों पर प्रीति, सब वस्तुओं पर प्रीति है। विवेकानन्द का दृष्टिकोण समुंदर की भाँति विशाल और गहरा था। वे समस्त संसार को साथ लेकर चलने के पक्षपाती थे।

यही नहीं वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सही अर्थों में जनसाधारण के मानस को स्पर्श करने का प्रयास किया। अपने देशवासियों को अपनी निजी संस्कृति की गरिमा और वरिष्ठता की प्रबल अनुभूति कराई। पददलित जन-समुदाय की सेवा करने के उनके अदम्य उत्साह के फलस्वरूप भारत के राष्ट्रीय नेताओं के समक्ष गतिविधियों का नया मार्ग प्रशस्त हुआ। पाश्चात्य दृष्टिकोण रखने वाले तत्कालीन नेता अब तक अपने असंख्य देशवासियों से अलग ही बने रहे थे। पहली बार पारम्परिक हिन्दू धर्म से सुधार आंदोलन शुरू हुआ और इसका प्रभाव तिलक और अरविन्द जैसे अनेक राष्ट्रवादी विचारकों पर पड़ा। स्पष्ट है कि 'दरिद्रनारायण' अर्थात् निर्धनों की सेवा का आदर्श स्थापित करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। उन्होंने अपने संन्यासियों को अकाल और महामारी में लोगों की सेवा करने की प्रेरणा दी जिसे बाद में गांधी व विनोबा के जीवन-दर्शन में स्पष्टतः देखा जा सकता है। बात यहीं तक सीमित नहीं है। विवेकानन्द ने दो क़दम आगे बढ़कर इस वर्तमान युग को शूद्रयुग कहकर यह घोषणा की कि पहले तीन वर्ण अपना राज्य भोग चुके हैं। अब शूद्रों की बारी है। डॉ. शिखा अग्रवाल ने अपनी पुस्तक

'स्वामी विवेकानन्द और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' में इस संदर्भ में ठीक टिप्पणी की है कि, "उनके दर्शन में उस समय मार्क्सवाद की झलक देखने को मिलती है जब मार्क्स भारत के लिए प्रायः अपरिचित थे और विश्व के किसी भी राष्ट्र में मार्क्सवादी विचारधारा अपने पाँव दृढ़तापूर्वक नहीं जमा सकी थी।" (पृ. 197) इस संदर्भ में हंसराज रहबर का कथन भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, "विवेकानन्द सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप से हेगेल और फायरबाख से आगे जाते हैं। कारण यह है कि हेगेल और फायरबाख ने अपने को अलग रखा, जबकि विवेकानन्द ने धर्म के माध्यम से राजनैतिक लड़ाई लड़ी। दूसरे, उन्नीसवीं सदी के अन्त तक मार्क्सवाद युग की प्रबल विचारधारा बन चुका था। चाहे विवेकानन्द ने मार्क्स और एंगेल्स के नामों का उल्लेख नहीं किया, पर यह संभव नहीं था कि उन सरीखे चिन्तक ने इस विचारधारा के बारे में कुछ पढ़ा और सोचा-समझा न हो। उन्होंने समाज का ऐतिहासिक भौतिकवादी विवेचन किया और उनकी दृष्टि न सिर्फ़ छोटे-से-छोटे सूक्ष्म परिवर्तन पर रहती थी, बल्कि उन्होंने भविष्यवाणियाँ भी कीं।" (हंसराज रहबर : योद्धा संन्यासी विवेकानन्द, पृ. 177)

विवेकानन्द ने धर्म को व्यापकतम अर्थ में स्थापित करते हुए सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किया। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता, रूढ़िवादिता, संशयात्मकता, कट्टरता और पाखंड का कड़ा विरोध किया। पंडितों और पुरोहितों के झूठ को जनता के सामने रखा और धर्म के बारे में फैले भ्रम को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने धर्म को विज्ञान के साथ जोड़कर दोनों को एक ही दिशा में अग्रसर बताया। विज्ञान धर्म का मार्ग अवरुद्ध नहीं करता वरन् प्रशस्त करता है। उन्होंने शेष धर्मों के साथ हिन्दू धर्म की तुलना करके यह सिद्ध कर दिया कि वेदान्त में सभी धर्मों का सार निहित है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि धर्म अथवा आध्यात्मिकता किसी प्रकार के पूजा-पाठ, दिखावे या कर्मकांड में निहित नहीं है, वरन् मनुष्य के देवत्व के विकास में है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि इस आध्यात्मिक उन्नति की बात करते-करते वो भौतिक उन्नति को नहीं भूले। वे शिक्षा को, विज्ञान को घर-घर पहुँचाना चाहते थे। अंग्रेज़ी भाषा के साथ-साथ भूगोल, विज्ञान, इतिहास, साहित्य, मनोविज्ञान आदि का ज्ञान

बिना किसी भेदभाव के निर्धनों तक में पहुँचाने के वे जबरदस्त हिमायती थे। स्त्री शिक्षा उनके निकट सबसे आवश्यक थी। वे पश्चिम से ज्ञान प्राप्त करने में, नई टेक्नोलॉजी ग्रहण करने में कोई बुराई नहीं देखते थे। लेकिन इतना सब होते हुए भी उन्होंने शिक्षा का मूलाधार भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता को स्वीकार किया और चरित्र-निर्माण, आत्मविश्वास, साहस और शारीरिक बल पर ज़ोर दिया। उन्होंने पश्चिम के अंधानुकरण के प्रति भी सबको सचेत किया। उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण आज भी इस देश की बहुमुखी उन्नति का आधार हो सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि विवेकानन्द समाज का सांगोपांग कायाकल्प करना चाहते थे लेकिन इसके लिए उनका आग्रह आध्यात्मिकता पर था। वे पश्चिम की चकाचौंध से आक्रांत नहीं थे। वे भारत का परिवर्तन भारतीयता के आधार पर करने के पक्ष में थे। उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण यह स्वीकार करता था कि भुखमरी से पीड़ित मनुष्य को धर्म का उपदेश देना कोरा उपहास है। जाति-प्रथा के विरुद्ध होते हुए भी वे उसके उन्मूलन के स्थान पर परिस्थितियों के अनुरूप उसमें परिवर्तन के पक्ष में थे। वे समाज से रूढ़िवादिता और अंधविश्वास का उन्मूलन चाहते थे।

विवेकानन्द मूलतः एक संन्यासी थे—हंसराज रहबर के शब्दों में 'योद्धा संन्यासी'। उनका मूल क्षेत्र अध्यात्म था। लेकिन उनके विचारों ने नई राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत किया। उन्होंने राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे बाद में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और महात्मा गांधी ने विकसित किया। राजनीति में आध्यात्मिकता की इन महापुरुषों ने पुरज़ोर वकालत की और इसका श्रीगणेश विवेकानन्द ने ही किया। वे कभी राजनीति से प्रेरित नहीं रहे। लेकिन वे सच्चे देशभक्त थे और मातृभूमि के लिए उनके मन में अगाध प्रेम था। वे देश की स्वतंत्रता को आध्यात्मिक स्वतंत्रता से जोड़कर देखते थे। यही स्वतंत्रता व्यक्ति को आत्मविश्वास से भरती है और ये आत्मविश्वास शक्ति और निर्भीकता में परिणत होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना पैदा करने का कार्य विवेकानन्द ने बिना राजनीति में कूदे ही कर दिखाया। शक्ति, निर्भीकता और आत्मबल के आधार पर ही विदेशी सत्ता से लोहा लिया जा सकता है। उनके इस संदेश ने राष्ट्रवादियों में नयी चेतना फूँकी। बंगाल के अनेक क्रांतिकारियों और राष्ट्रवादियों ने

उनकी 'संन्यासी का गीत' शीर्षक कविता से स्वतंत्रता का मंत्र लिया। इसे 'बंगालियों की बाइबल' तक कहा जाता हैं। स्वामी रामतीर्थ ने नववेदांत के प्रसार, प्रचार के लिए विवेकानन्द से प्रेरणा ली। सुभाषचन्द्र बोस तो उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। अरविन्द उनके प्रशंसक थे, स्वामी सत्यदेव उनके भक्त। डॉ. राधाकृष्णन उनका गहरा प्रभाव मानते थे तो महात्मा गांधी उनसे मिलने बेलुड़ मठ गये। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने तो भारत को जानने के लिए विवेकानन्द के अध्ययन को आवश्यक माना। पंडित नेहरू उन्हें अतीत एवं वर्तमान के बीच एक सेतु मानते थे।

इस योद्धा संन्यासी की आध्यात्मिक संलग्नता के बावजूद उनके विचारों और पुस्तकों को क्रांतिकारी राजनीति के लिएं काम में ला रहे थे। इसलिए सरकार स्वामीजी की 'पत्रावली' और रामकृष्ण मिशन पर प्रतिबंध लगाना चाहती थी। लॉर्ड कारमीशेल ने तो रामकृष्ण मिशल पर सीधा आरोप लगाया था। सीक्रेट पुलिस रिपोर्ट में उनके लिए कहा गया कि राजनीति में राष्ट्रवाद को वेदान्त सोसाइटी आगे बढ़ा रही है। विवेकानन्द राजनीति से दूर थे लेकिन हिन्दू राष्ट्रवादी उन्हें आंदोलन का गुरु मानते थे। एक और खुफिया पुलिस रिपोर्ट में कहा गया था कि विवेकानन्द के उपदेश, अरविन्द घोष जैसे आदर्शवादी क्रांतिकारियों के हाथों में एक शक्तिशाली हथियार हैं। बहुत-से उपदेशों में सरकार को चुनौती देने वाले भाषण हैं, जिससे अपनी शक्तियों को बुराई के खिलाफ़ पहचाना जा सके। (देखिए संकारीप्रसाद वासु का लेख 'स्वामी विवेकानन्द और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन' : विवेकानन्द केन्द्र पत्रिका, अगस्त 1992, पृ. 74) हंसराज रहबर ने विवेकानंद के बाद उनके प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है, ''अनुशीलन नाम का क्रांतिकारी गुप्त संगठन 1908 में बना। विवेकानन्द की आइरिश शिष्या बहन निवेदिता तथा अरविन्द घोष इसके बुनियादी सदस्यों में से थे।...विवेकानन्द का छोटा भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त क्रांतिकारियों के पत्र 'युगान्तर' का संपादक था। हिंसावाद का प्रचार करने के अपराध में उसे लम्बी सज़ा मिली, तो उसकी बूढ़ी माता ने अपने पुत्र की इस देश-सेवा पर हर्ष प्रकट किया और बंगाल की पाँच सौ महिलाएँ उन्हें बधाई देने उनके घर पर गईं। भूपेन्द्रनाथ दत्त ने भी अदालत में बड़े साहस के साथ घोषणा की कि मेरे पीछे अखबार का काम सँभालने वाले तीस करोड़ आदमी मौजूद हैं।'' (योद्धा संन्यासी

विवेकानन्द, पृ. 210) इस प्रकार विवेकानन्द के विचारों में छिपी आग को उस समय के राष्ट्रवादियों ने पहचाना और उसका सदुपयोग किया।

विवेकानन्द को प्रायः सभी विद्वानों ने बौद्धिक माना है। मैं उन्हें संवेदनशील बौद्धिक कहना अधिक उचित समझता हूँ। बौद्धिक, तार्किक होता है। युक्तियों से अपनी बात सिद्ध करने वाला होता है, वह शब्दों का जादूगर होता है, लेकिन विवेकानन्द के पत्रों और भाषणों को पढ़ने वाला उनमें केवल इतना भर नहीं पाता। उनके भाषणों और पत्रों में उनका लोगों के साथ अत्यंत गहरा लगाव प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सकता है। उनकी ये रचनाएँ ही नहीं, उनके जीवन के अनेक प्रसंग इस सत्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपने समाज, यहाँ के दारिद्र्य, आलस्य, ईर्ष्या, कूपमंडूकता के प्रति उनकी तड़प, खीझ, क्रोध, विक्षोभ उनके भाषणों और पत्रों में फूट-फूट पड़ता है। उनकी ये शिद्दत उनके सम्पूर्ण साहित्य में प्रायः प्रकट होती दीख पड़ती है। विवेकानन्द की ऊर्जस्विता का पता भी यहीं से चलता है। विवेकानन्द यदि अति संवेदनशील न होते, उनका हृदय यदि कोमल और निश्छल न होता तो वो शिद्दत जिसका ज़िक्र मैंने अभी किया है, देखने को न मिलती। इसी शिद्दत के कारण उनका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य जीवन्त लगता है। उनकी अपने समाज के लोगों के प्रति प्रगाढ़ता ही उनकी पीड़ा के माध्यम से प्रकट होती है। अपने लोगों पर व्यंग्य-वर्षा करने में भी वे संकोच नहीं करते—ये उनके गहरे लगाव का ही परिचायक है। विवेकानन्द की भीतरी आग, उनकी समाज से प्रगाढ़ सम्पृक्ति, उनकी ओजपूर्ण वाणी और जनता को व्यंग्य का प्रहार करके बार-बार जगाने की कोशिश कुछ इस ईमानदारी और शिद्दत से हुई कि उसकी चमक आज भी ज्यों की त्यों है और जो भी विवेकानन्द की वाणी को छूएगा वो इसमें भीगे बिना नहीं रहेगा। विवेकानन्द का महत्त्व इसी बात में है कि आज भी उनका कथन भारत की उन्नति का रास्ता प्रशस्त करने के लिए दीपक की लौ सदृश्य प्रज्वलित है।

□

ऐसा नहीं है कि विवेकानन्द के विचारों से असहमत होने वाले लोग इस दुनिया में नहीं हैं—लेकिन यह असहमति प्रायः मौखिक ही रही है। लिखित रूप में शायद दो-तीन ही हों। इनमें भी सबसे प्रमुख हैं ओशो (आचार्य

रजनीश)। यूँ उन्हें अपने विचार रखने का पूर्ण अधिकार है लेकिन उन्होंने जिन तर्कों पर अपना मत आधारित किया है वे 'तर्क' हैं कि 'कुतर्क' इसका अवलोकन करना आवश्यक लगता है।

ओशो की दृष्टि में विवेकानन्द के भारत में समादृत होने का कारण 'भारत के अहंकार को खूब पोषित' करना है। "भारत सदियों से, कोई दो हज़ार साल से गुलाम था। इसके अहंकार को बड़ी चोटें लग गई थीं, बड़े घाव हो गये थे। वह चाहता था कि कोई इसके अहंकार पर मलहम-पट्टी करे। कोई इसको कहे कि तुम जगतगुरु हो। कोई इसकी घोषणा करे कि तुम महानतम हो। कि इसी पृथ्वी पर अवतारों का जन्म हुआ है। कि यह धर्म-भूमि है, पुण्यभूमि है। कोई घोषणा करे, हमारी अस्मिता को बल दे, हमारे अहंकार के झंडे फहराये। यह काम राजनीति का काम है, धर्म का इससे कोई संबंध नहीं है। और विवेकानन्द होशियार थे, राजनीति में कुशल थे।" (ओशो, लाली मेरे लाल की, पृ. 153-154)

यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसका अवलोकन किया जाये तो यह 'अहंकार' वाली बात उचित नहीं लगती क्योंकि सोई जनता को जगाना और विदेशों में बनी भारत की भ्रांत छवि को सुधारने का प्रयत्न 'अहंकार' का पोषण नहीं कहा जा सकता। किसी में आत्मविश्वास पैदा करना, भूले हुए उज्ज्वल अतीत से अवगत करवाकर अपना वर्तमान सँवारने के लिए कहना 'अहंकार' का पोषण कैसे हो सकता है? यदि हो सकता है तो फिर हमें सभी को हतोत्साहित करते रहना चाहिए ताकि 'अहंकार' पैदा न हो। (अहंकारहीन होने का यह कितना सरल उपाय है) सारे विश्व में भारत की भ्रांत छवि को—एक ऐसी छवि को जिसे सुन, जानकर किसी को भी आत्मग्लानि हो—सुधारने में जो परिश्रम स्वामी विवेकानन्द को करना पड़ा, उसका शतांश भी ओशो को नहीं करना पड़ा क्योंकि ओशो ने जिस युग में अपनी 'विश्व पताका' फहराई उस समय तक भारत की छवि सुधर चुकी थी और इसे सुधारने में विवेकानन्द का पूरा न सही यत्किंचित योगदान तो मानना ही पड़ेगा। दूसरी बात, स्वयं ओशो ने भारत के सभी—महान व्यक्तियों पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रवचन दिये हैं—वो अष्टावक्र हों, कृष्ण हों, बुद्ध हों, महावीर हों, कबीर हों, गुरु नानक हों, मीराबाई हों, पतंजलि हों, गीता हो, उपनिषद् हों, शिवसूत्र हों—ये सब भारतीय 'अस्मिता को बल'

देने वाली बात नहीं है क्या? ओशो ने तो दो क़दम आगे बढ़कर कुछ ऐसे भारतीय संतों को भी सम्मान दिया जिन्हें 'कृष्ण और बुद्ध जैसी प्रसिद्धि' नहीं मिली थी। यह सब करके वे भारतीय 'अहंकार' का पोषण नहीं कर रहे थे क्या? यदि विवेकानन्द के स्थान पर ओशो हुए होते तो क्या वे विवेकानन्द से अलग मार्ग अपनाते : ओशो जब "मैं आप सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूँ" कहते थे तो क्या वे अपने श्रोताओं का अहंकार पोषित नहीं करते थे? बाद में इस सत्य को जानकर उन्होंने यह कहना बंद कर दिया। अब इसे भी राजनीति न कहा जाये तो क्या कहा जाये! इस संदर्भ में ओशो की पुस्तक 'भारत एक सनातन यात्रा' का पहला अध्याय ही देखकर सच्चाई बिलकुल साफ हो जाती है—इस पुस्तक का नाम ही बहुत कुछ ध्वनित करता है।

विवेकानन्द पर दूसरा आरोप उन्होंने यह लगाया कि "ब्रिटिश साम्राज्य के बड़े पक्षपाती थे और खुशामदी थे, क्योंकि होशियार आदमी थे। ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ़ उन्होंने एक शब्द नहीं कहा है, यह तुम्हें मालूम होना चाहिए, बल्कि उसकी बड़ी प्रशंसा की है। यहाँ तक कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य न होता तो भारत का पुनरुत्थान नहीं हो सकता था।" (वही, पृ. 154) जहाँ तक पुनरुत्थान की बात है सो यह तो एक ऐतिहासिक सत्य है—सभी इतिहासकार मानते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के कारण भारत में पुनरुत्थान (नवजागरण) हुआ। अतः विवेकानन्द पर यह आरोप निराधार है और इसे ब्रिटिश शासन की प्रशंसा कहना तो घोर अन्याय है। उन्हें खुशामदी किस आधार पर कहा गया है—यह बात पूर्णतया अस्पष्ट है। विवेकानन्द पूर्णतया राष्ट्रवादी थे—अपने देश से प्यार करते थे, उसे समर्पित थे—राष्ट्रवाद से सम्बन्धित अध्याय में उनके मत देखे जा सकते हैं। 'वर्तमान भारत' नामक उनका लेख इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हाँ, विदेश में उनका आतिथ्य-सत्कार हुआ, इसकी प्रशंसा समस्त भारत ने की। 'मुट्ठी-भर लोग हम पर राज्य कर रहे हैं'—कहकर हमें धिक्कारने वाला खुशामदी कैसे हो सकता है? विज्ञान, टेक्नोलॉजी लेने की बात करना खुशामदी होना है तो स्वयं ओशो का साहित्य पश्चिम की प्रशंसा से भरा पड़ा है बल्कि वे तो वहीं बस जाने की कामना लेकर इस 'दरिद्र देश' से गये थे—ये अलग बात है कि पश्चिम की चकाचौंध से आक्रांत ओशो को अंततः यहीं लौटना पड़ा।

ओशो ने विवेकानन्द को पलायनवादी भी कहा है। "उन्होंने भारतीयों को समझाने की कोशिश की कि तुम्हारा असली काम अध्यात्म है, तुम तो सिर्फ उपनिषद्, गीता, वेद इनकी घोषणा करो। यह भौतिक गुलामी है। यह तो सब माया है।" (वही) विवेकानन्द को पढ़ने वाला स्वतः ही इस मिथ्या आरोप को आसानी से पकड़ लेगा। विवेकानन्द आजीवन कर्मशील रहे—लोगों की सेवा करते रहे। वे 'अपने भीतर उतरने' की बात ज़रूर करते थे—मगर केवल यही नहीं कहते थे। ओशो ने कभी विवेकानन्द की भाँति 'व्यक्तिगत मोक्ष की कामना को व्यर्थ' नहीं कहा। विडम्बना यह है कि स्वयं ओशो इसी प्रवचन में अपने भीतर उतरने की बात कहते हैं। "धार्मिक होने का मौलिक सिद्धांत है : बाहर से सारी प्रेरणाएँ तोड़ दो। अपने भीतर, निपट अपने भीतर, सारे सेतु, सारे सम्बन्ध तोड़कर डूब जाओ।" (वही, पृ. 160) ओशो स्वयं पलायनवादी दिखाई पड़ते हैं। ओशो ने कभी समाज के लोगों की सेवा की बात नहीं की। जो समाज के लोगों को 'ईश्वर' स्वरूप मानता हो वह संसार को माया कैसे कह सकता है? वह कैसे पलायनवादी हो सकता है?

ओशो का कहना यह भी है कि विवेकानन्द ने ब्रिटिश राज्य की इसलिए प्रशंसा की कि रेल और टेलीफोन, दवाइयाँ वो लेकर आये। साथ में तर्क वे ये देते हैं कि, "जैसे कि हम नपुंसक हैं कि हम अपने हाथ से रास्ते नहीं बना सकते थे, रेलगाड़ी भी नहीं ला सकते थे। जैसे कि जिन-जिन देशों में ब्रिटिश साम्राज्य नहीं रहा वहाँ रेलगाड़ी नहीं पहुँची और वहाँ रास्ते नहीं बने और वहाँ टेलीफोन तार नहीं है और पोस्ट ऑफिस नहीं है।" (वही, पृ. 155) अब यह बेवजह की खींचातानी है। पहली बात तो यह कि हम कर सकते थे या नहीं, सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि भारत में यह किसने किया? जवाब सीधा और साफ़ है। अगर यह बात विवेकानन्द ने भी कह दी तो वे ब्रिटिशों के भक्त हो गये? स्वयं ओशो के साहित्य में ढेरों ऐसे विदेशी आविष्कारों की प्रशंसा है और भारतीयों की भर्त्सना है।

विवेकानन्द के राजनीति में भाग न लेने को ओशो ने ब्रिटिशों का समर्थन करना माना है। विवेकानन्द न जवाहरलाल नेहरू थे, न गांधी, न गोखले—वे विवेकानन्द थे। राजनीति में न दयानन्द सरस्वती नें भाग लिया

न जेल से निकलने के बाद अरविन्द घोष ने—केवल इसी से वे ब्रिटिशों के समर्थक नहीं हो जाते।

रही बुद्धत्व की बात। सो ओशो की भाँति विवेकानन्द ने कभी अपने बुद्धत्व को उपलब्ध होने का दावा नहीं किया। उन्होंने अपने नाम के आगे 'भगवान्' कभी नहीं लगाया जैसा ओशो करते रहे हैं। ओशो का कहना है कि वे बुद्धत्व तक पहुँचे हैं तो 'नास्तिकता के मार्ग' से। ''सबको इन्कार करके पहुँचा हूँ। मेरा प्रारम्भिक जीवन नास्तिक का जीवन है।'' (वही, पृ. 156) विवेकानन्द का जीवन भी नास्तिक का ही जीवन है। ओशो को तो रामकृष्ण परमहंस को स्वीकार करने में दो पल नहीं लगे लेकिन विवेकानन्द की नास्तिकता तीन वर्ष तक परमहंस को स्वीकार करने से रोकती रही। ओशो ने दूसरी बात यह कही कि वे सब ग्रंथों को—उपनिषद् वेद, बाइबल, बुद्ध, महावीर को नकारकर यहाँ पहुँचे। विवेकानन्द का कथन भी देख लें, ''धार्मिक होने के लिए सर्वप्रथम तुम्हें पुस्तकें फेंक देनी होंगी। पुस्तकें जितनी कम पढ़ो, उतनी ही तुम्हारी भलाई है।'' (वि. सा. 9, पृ. 35) विडम्बना यह है कि ओशो ने इन सब ग्रंथों और व्यक्तियों पर सारगर्भित व्याख्यान दिये हैं। इनका औचित्य और क्या हो सकता है सिवाय इसके कि इन सबका महत्त्व है। ओशो का अन्तर्विरोध स्वतः स्पष्ट है।

ओशो परमहंस को उसी कोटि का मानते हैं ''जिसमें राम और जिसमें कृष्ण, उसी कोटि में हैं जहाँ बुद्ध और महावीर।'' (वही, पृ. 155) अब रामकृष्ण विवेकानन्द को बुद्ध मानते हैं लेकिन ओशो विवेकानन्द का कोई मूल्य ही नहीं मानते। किसे सत्य माना जाये? क्या बुद्धत्व को उपलब्ध रामकृष्ण परमहंस की दृष्टि इतनी कच्ची हो सकती है कि किसी सामान्य व्यक्ति को वो इतना सम्मान दें जैसा विवेकानन्द को दिया? ओशो तो स्वयं को बुद्धत्व को उपलब्ध मानते ही हैं। किसकी बात मानें?

ग़नीमत है कि ओशो विवेकानन्द को चिन्तक, विचारक, दार्शनिक, विद्वान, महापंडित मानते हैं।

□

विवेकानन्द एक ऐसे आध्यात्मिक पुरुष हैं जो इसे समर्पित होते हुए भी केवल इसी में खोकर नहीं रह गये। उन्होंने कभी अपने इर्द-गिर्द के समाज से आँखें नहीं चुराईं, वे हमेशा इसके साथ जुड़े रहे। प्रायः सभी

आध्यात्मिक पुरुष समाज में रहते तो हैं, मगर इसके प्रति उपेक्षा का भाव या इससे ऊपर उठ जाने की शिक्षा देते दिखाई देते हैं। विवेकानन्द ने दोनों में समन्वय किया। वे अपने समाज के प्रति उतनी ही संलग्नता अनुभव करते हैं जितनी अध्यात्म के प्रति। अपने समाज के प्रति, यहाँ के निर्धन, अनपढ़ लोगों के प्रति जितनी पीड़ा उनके मन में है, उसे प्रकट करने में वह संकोच नहीं करते। इस पीड़ा को कथनी तक ही सीमित नहीं रखा—निर्धनों की जितनी सेवा हो सकी उन्होंने की। दरअसल वे समाज को धर्म के क्षेत्र से अलग नहीं समझते थे। वैसे भी वेदान्ती होने के नाते जब वे प्राणी मात्र को ईश्वर मानकर एक-दूसरे के प्रति प्रेम और सौहार्द्र की बात बार-बार करते हैं—तब यह कैसे संभव हो सकता है कि वे अपने समाज के प्रति आँख बंद कर लें? यह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात है जिसकी महत्ता को दूसरे संन्यासियों से तुलना करके भली-भाँति समझा जा सकता है। ओशो ने अपना सम्पर्क आम लोगों से तोड़ लिया था और एक राजा की भाँति 'भक्तों' को दर्शन देते थे। वे अपना प्रवचन देते थे और अपने दायरे में सीमित हो जाते थे। वैसे उनका स्पष्ट कथन था कि उनका धर्म ग़रीबों, भूखे-प्यासों का नहीं है। विवेकानन्द भी भूखों को धर्म सिखाना मूर्खता समझते थे। अन्तर है तो बस इतना कि आम आदमी की ओशो तक कोई पहुँच न थी और न ही उन्हें इससे कुछ लेना-देना था। इसके विपरीत विवेकानन्द ने निर्धनों और पीड़ितों की सेवा को मानव के मूलभूत धार्मिक कर्तव्यों में अनिवार्य रूप से शामिल करके एक नये मार्ग को अपनाया। ओशो जैसे आध्यात्मिक महापुरुष भी धर्म के साथ, समाज के साथ यह संतुलन कायम नहीं रख पाये हैं। विवेकानन्द के आज भी प्रासंगिक होने का मुख्य कारण यही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओशो : लाली मेरे लाल की, डायमंड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण-1996
2. ओशो : भारत एक सनातन यात्रा, डायमंड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2000
3. के. दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, तीसरा संस्करण-1982
4. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, संस्करण-1994
5. धर्मपाल : राजस्थान : नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली 1974
6. भरतकुमार तिवारी : विवेकानन्द का दार्शनिक चिन्तन, भारतीय भाषापीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988
7. राजेन्द्रप्रसाद गुप्त : स्वामी विवेकानन्द : व्यक्ति और विचार, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997
8. राधाकृष्णन् : हमारी विरासत, सरस्वती विहार, दिल्ली, दूसरा संस्करण-1977
9. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल, पटना, संस्करण-1987
10. रोमाँ रोलाँ : विवेकानन्द, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, बारहवाँ संस्करण-2006

आध्यात्मिक पुरुष समाज में रहते तो हैं, मगर इसके प्रति उपेक्षा का भाव या इससे ऊपर उठ जाने की शिक्षा देते दिखाई देते हैं। विवेकानन्द ने दोनों में समन्वय किया। वे अपने समाज के प्रति उतनी ही संलग्नता अनुभव करते हैं जितनी अध्यात्म के प्रति। अपने समाज के प्रति, यहाँ के निर्धन, अनपढ़ लोगों के प्रति जितनी पीड़ा उनके मन में है, उसे प्रकट करने में वह संकोच नहीं करते। इस पीड़ा को कथनी तक ही सीमित नहीं रखा—निर्धनों की जितनी सेवा हो सकी उन्होंने की। दरअसल वे समाज को धर्म के क्षेत्र से अलग नहीं समझते थे। वैसे भी वेदान्ती होने के नाते जब वे प्राणी मात्र को ईश्वर मानकर एक-दूसरे के प्रति प्रेम और सौहार्द्र की बात बार-बार करते हैं—तब यह कैसे संभव हो सकता है कि वे अपने समाज के प्रति आँख बंद कर लें? यह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात है जिसकी महत्ता को दूसरे संन्यासियों से तुलना करके भली-भाँति समझा जा सकता है। ओशो ने अपना सम्पर्क आम लोगों से तोड़ लिया था और एक राजा की भाँति 'भक्तों' को दर्शन देते थे। वे अपना प्रवचन देते थे और अपने दायरे में सीमित हो जाते थे। वैसे उनका स्पष्ट कथन था कि उनका धर्म ग़रीबों, भूखे-प्यासों का नहीं है। विवेकानन्द भी भूखों को धर्म सिखाना मूर्खता समझते थे। अन्तर है तो बस इतना कि आम आदमी की ओशो तक कोई पहुँच न थी और न ही उन्हें इससे कुछ लेना-देना था। इसके विपरीत विवेकानन्द ने निर्धनों और पीड़ितों की सेवा को मानव के मूलभूत धार्मिक कर्तव्यों में अनिवार्य रूप से शामिल करके एक नये मार्ग को अपनाया। ओशो जैसे आध्यात्मिक महापुरुष भी धर्म के साथ, समाज के साथ यह संतुलन कायम नहीं रख पाये हैं। विवेकानन्द के आज भी प्रासंगिक होने का मुख्य कारण यही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओशो : लाली मेरे लाल की, डायमंड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण-1996
2. ओशो : भारत एक सनातन यात्रा, डायमंड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2000
3. के. दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, तीसरा संस्करण-1982
4. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, संस्करण-1994
5. धर्मपाल : राजस्थान : नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली 1974
6. भरतकुमार तिवारी : विवेकानन्द का दार्शनिक चिन्तन, भारतीय भाषापीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988
7. राजेन्द्रप्रसाद गुप्त : स्वामी विवेकानन्द : व्यक्ति और विचार, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997
8. राधाकृष्णन् : हमारी विरासत, सरस्वती विहार, दिल्ली, दूसरा संस्करण-1977
9. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल, पटना, संस्करण-1987
10. रोमाँ रोलाँ : विवेकानन्द, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, बारहवाँ संस्करण-2006

11. शिखा अग्रवाल : स्वामी विवेकानन्द और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, प्रथम संस्करण-2003
12. सत्येन्द्रनाथ मजूमदार : विवेकानन्द चरित, रामकृष्ण मठ, नागपुर, बीसवाँ संस्करण-2005
13. सिस्टर निवेदिता : स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, संस्करण-2001
14. स्वामी गम्भीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द (तीनों भाग), रामकृष्ण मठ, नागपुर, संस्करण-2004
15. स्वामी विदेहात्मानन्द : स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण-2002
16. स्वामी विवेकानन्द : विवेकानन्द साहित्य (दस भाग), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम रियायती संस्करण-1989
17. स्वामी सारदानन्द : श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (दो भाग) रामकृष्ण मठ, नागपुर, बीसवाँ संस्करण-2005
18. हंसराज रहबर : योद्धा संन्यासी विवेकानन्द, राजपाल एंड संज़, दिल्ली, संस्करण-2004
19. Encyclopedia of India : Encyclopedia Britanica, New Delhi, Edition-2008
20. R.C. Majumdar (Dr.) : Swami Vivekanand, Advaita Ashram, Kolkata, Edition-2004
21. Satish K. Kapoor : Cultural Contact and Fusion : Swami Vivekanand in the West (1993-96), First edition, 1987, ABS Publication, Jalandhar.
22. Vivekanand Kendra Patrika, volume 21, August 1992